लाला देवराज

सत्यदेव विद्यालंकार

लाला देवराज

(कन्या-महाविद्यालय के संस्थापक और मातृ-जाति के
उद्धारक लाला देवराज जी की प्रामाणिक
और विस्तृत जीवनी)

लेखक—

सत्यदेव विद्यालंकार

कन्या-महाविद्यालय की स्वर्ण-जयन्ती
कार्तिक—१९९४, अक्तूबर—१९३७

—:—

प्रकाशक—
श्री जगन्नाथ जी वकील
मन्त्री मुख्य-सभा कन्या-महाविद्यालय,
जालन्धर शहर

मूल्य १)

मुद्रक—
पं० मायाराम लखनपाल
भारती प्रिंटिंग प्रेस
हस्पताल रोड, लाहौर।

विषय-सूची

पहला भाग

१.	लाखों में एक	३—७
२.	प्रजापति परिवार	८—१३
३.	साँवले साह	१४—२३
४.	मि० लिबर्टी उर्फ़ सत्यप्रकाश	२४—३४
५.	महान सौभाग्य	३५—४२
६.	सद्गृहस्थ	४३—५१
७.	जालन्धर में	५२—६७
८.	ज़ैलदार और आनरेरी मैजिस्ट्रेट	६८—७२
९.	अखबारी दुनिया में	७३—७७
१०.	धर्म संकट	७८—८७
११.	आर्यसमाज में	८८—११८

दूसरा भाग

१. स्वप्न १२१—१२४
२. आकाँक्षा १२५—१३६
३. प्रारम्भ १३७—१४६
४. विकास १४७—१७०
५. प्रबन्ध व व्यवस्था १७१—१७६
६. लोकप्रियता १७७—१८६
७. आकर्षण विशेषताएं और सेवा १६०—२०५
८. श्रम और विरोध २०६—२१६
६. चाचा जी २२०—२३०
१०. कन्याओं की भक्ति और उत्साह २३१—२४५

तीसरा भाग

१. साहित्य सेवा २४६—२५६
२. डायरी के कुछ पृष्ठ २५७—२६८
३. महान व्यक्तित्व २६६—२८४

लाला देवराज

परिचय

स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन का काम करने वाली जालन्धर की सुप्रसिद्ध और लोकप्रिय संस्था "कन्या महाविद्यालय" के सुवर्ण-जयन्ती-महोत्सव पर उसके संस्थापक श्रद्धेय लाला देवराज जी की प्रामाणिक और विस्तृत जीवनी से अधिक सुन्दर भेंट और क्या हो सकती थी? जिस सन्त महापुरुष ने सब ओर से अपना ध्यान हटा महाविद्यालय के असम्भव प्रतीत होने वाले परीक्षण को सफल बना, मातृ-जाति के उत्थान एवं अभ्युदय का महान्, विस्तृत और चहुँमुखी कार्य किया है, उसके जीवन की अमर कहानी से अधिक सुन्दर उसका स्मारक इस महोत्सव के अवसर पर कोई दूसरा नहीं बनाया जा सकता था। लेखक अपने को धन्य मानता है कि उसे इस सुअवसर पर इस भेंट के रूप में इस स्मारक की स्थापना का अहोभाग्य, कन्या महाविद्यालय की मुख्य-सभा की कृपा और बहिन लज्जावती जी के सौजन्य से प्राप्त हुआ है जिसके लिये वह उनका अत्यन्त आभारी और कृतज्ञ है। १९३३ में अजमेर में हुये "श्री दयानन्द निर्वाण-अर्ध-शताब्दी" के अवसर पर लेखक को अपने आचार्य अमर शहीद स्वामी

श्रद्धानन्द जी महाराज की जीवनी जनता की भेंट करने का अहोभाग्य प्राप्त हुआ था। उसका हिन्दी-जगत् में आशातीत और कल्पनातीत स्वागत हुआ था। आज चार वर्ष बाद इस जीवनी की भेंट ले कर जनता के सामने उपस्थित होते हुये विशेष हर्ष व सन्तोष इसलिये है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी के समान ही अपने जीवन को अपने मिशन में खपा देने वाले एक और महापुरुष की जीवनी लिखने का उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ। दोनों महापुरुषों के लिये जालन्धर-निवासी होने से लेखक को विशेष गर्व है और इस रूप में उन दोनों के प्रति अपने कर्तव्य को पालन करने का महान् अवसर मिलने पर उसे विशेष सन्तोष है।

यह आकस्मिक घटना थी। १९३५ के जनवरी-फ़रवरी में जालन्धर में भयानक बीमारी से लेखक क्या बचा था, वैद्य बालकनाथ जी ने मृत्यु के मुख से उसे खींच बाहर निकाला था। बीमारी के बाद पुनर्जीवन प्राप्त करने की बाल्यावस्था में 'चाचा जी' के दर्शन हुये थे। दो दिन बाद बड़े सवेरे सहसा यह सुन पड़ा कि 'देवराज जी इस संसार में नहीं रहे।' उसी समय उनकी जीवनी लिखने का मन में विचार पैदा हुआ था। कलकत्ता के मासिक "विश्वमित्र" में स्वान्तः सुखाय उनके सम्बन्ध में एक लेख लिखा था, जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सेखसरिया पारितोषक के प्रर्वतक श्रीयुत सीताराम सेखसरिया की प्रेरणा और 'सरस्वती-सदन' के स्वत्वाधिकारी श्री द्वारिका प्रसाद जी

सेवक की कृपा के फल-स्वरूप पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ था। वह जीवनी नहीं थी, जीवनी का परिचय-मात्र था। कन्या-महाविद्यालय की प्रबन्धकर्तृ-सभा के सामने देवराज जी के स्मारक का विषय जब पेश हुआ तब उनकी पूर्ण, प्रामाणिक और विस्तृत जीवनी प्रकाशित करने का भी निश्चय हुआ। सभा की ओर से बहिन लज्जावती जी ने यह काम मेरे सिपुर्द किया। उनकी इच्छा इसको बहुत जल्दी प्रकाशित करने की थी। कुछ तो स्वास्थ्य की गड़बड़ और अधिकतर दैनिक "हिन्दुस्तान" के शुरू होते ही उसके कार्य-भार को संभाल लेने के कारण मैं उनकी इच्छा के अनुसार उसे जल्दी लिख कर पूरा कर न सका। देरी होने पर भी इतना सान्तोष है कि वह बहुत ही उपयुक्त अवसर पर जनता के सामने पेश की जा रही है।

इतिहास लिखने के समान जीवनी लिखने का काम भी श्रम-साध्य है। इस जीवनी के लिखने में सुभीता इतना ही रहा कि देवराज जी की अपने हाथ की लिखी हुई डायरियाँ, महाविद्यालय की सालाना रिपोर्टें और कुछ समाचार-पत्रों की फाइलें बिना दिक्कत के उपलब्ध हो गईं। उन सबसे यथासम्भव पूरा काम लिया गया। जीवनी को पूरी तरह प्रामाणिक बनाने का यथाशक्ति यत्न किया गया है। सन्दिग्ध बातों का इस में समावेश नहीं किया गया है। फिर भी संभव है कि कुछ बातों में किन्हीं का मतभेद या दृष्टिभेद हो। संस्था के प्रबन्ध एवं संचालन अथवा उसके कार्यकर्ताओं से मतभेद रखने वाले यदि देवराज

जी के जीवन पर निरपेक्ष भाव से विचार करेंगे, तो वे भी यह स्वीकार करेंगे कि चरित्र-नायक का जीवन कई अंशों में आदर्श था और महाविद्यालय के जिस कार्य के नाते हम उनका पुण्य स्मरण करते हैं, वह इतना महान्, व्यापक एवं चहुँमुखी था कि उसे जनता के सामने असली रूप में उपस्थित करने के लिये इससे भी अधिक विस्तृत जीवनी की ज़रूरत थी।

हिन्दी में जीवनी-साहित्य का प्रायः अभाव है और आर्य-समाज इतने महापुरुषों को जन्म देने के बाद भी जीवनी-साहित्य की दृष्टि से प्रायः कंगाल है। हिन्दी में इधर जीवनी-साहित्य की ओर कुछ लेखकों और प्रकाशकों का ध्यान गया है। लेकिन दूसरी भाषाओं के मुकाबले में हिन्दी अभी बहुत पिछड़ी हुई है। इसका प्रधान कारण यह है कि लेखकों व प्रकाशकों को जीवनी-साहित्य का धन्धा पैसों की दृष्टि से इतना आकर्षक नहीं जँचता। दूसरे जो महापुरुष जिन संस्थाओं का निर्माण करते हैं, वे केवल ख़र्च के भय से उनका वैसा स्मारक बनाने की ज़रूरत महसूस नहीं करतीं। समाचार-पत्रों में अब पढ़ने को मिला है कि लाहौर के लोक-सेवक-मण्डल पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय जी की जीवनी प्रकाशित करने का यत्न कर रहा है। पर, यह पता नहीं चला कि यह जीवनी किस भाषा में लिखी जायगी? क्या 'लाजपत-भवन' बनाने और उनकी मूर्ति खड़ी करने से पहिले यह काम नहीं होना चाहिये था? सर गंगाराम ट्रस्ट सोसायटी ने स्वर्गीय गंगारामजी

की एक जीवनी अंग्रेज़ी में तो प्रकाशित की है, लेकिन आम जनता की भाषा हिन्दी में उसे प्रकाशित नहीं किया गया। अपने संस्थापक एवं निर्माता महापुरुषों के प्रति इस उदासीनता या उपेक्षा को यदि कृतघ्नता, कहा जा सकता है, तो आर्य-समाज उसके लिये सबसे अधिक दोषी है। महर्षि दयानन्द सरस्वती की जीवनी आर्य-पथिक पण्डित लेखराम जी ने और उनकी जीवनी अमर-शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने लिखी। लेकिन, उनके बाद यह क्रम जारी नहीं रहा। जीवनी-साहित्य को वेद-प्रचार का अंग नहीं समझा गया। और न यह समझा गया कि वैदिक आदर्शों, आदेशों एवं सिद्धान्तों को जीवन में डाल कर उसको सजीव बनाने वालों के जीवनी-साहित्य के बिना केवल सिद्धान्तों एवं वैदिक ऋचाओं को व्याख्या के निमित्त से तय्यार किया गया कोरा वैदिक-साहित्य धूप-दीप-नैवेद्य से खाली थाली हाथ में ले आरती उतारने के समान है। महाराष्ट्र में लोक-मान्य तिलक, जस्टिस महादेव गोविन्द रानडे तथा राजर्षि गोखले और बंगाल में देशबन्धु दास, देशप्रिय सेनगुप्त, राजा राममोहन राय, श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, तथा सर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी आदि की जीवनियों के बारे में जो साहित्य तय्यार हुआ है, वह हिन्दी अथवा आर्य-समाज में कहाँ है ? आर्य सार्वदेशिक सभा, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, गुरुकुल काँगड़ी अथवा जालन्धर-आर्यसमाज आदि में से किसी भी संस्था को अपने संस्थापक एवं निर्माता

की जीवनी प्रकाशित करने की कभी ज़रूरत ही महसूस नहीं हुई। कन्या-महाविद्यालय ने इस जीवनी को प्रकाशित करके जहाँ हिन्दी के जीवनी-साहित्य की कुछ भी वृद्धि की है, वहाँ अपने संस्थापक की कीर्ति व स्मृति को हिन्दी-साहित्य में अमर बना कर दूसरी संस्थाओं एवं आर्यसमाज के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित कर दिया है।

जीवनी-साहित्य का आदर्श बहुत ऊंचा है। वह वीर-पूजा का प्रधान अंग है। रामायण और महाभारत आदि के ग्रन्थ वीर-पूजा के ही निदर्शक हैं। वर्तमान और भावी सन्तान में जीवन, जागृति स्फूर्ति और चैतन्य पैदा करने के लिये ऐसे साहित्य की ज़रूरत के बारे में दो मत नहीं हो सकते। ऐसे साहित्य के बिना देश, जाति तथा राष्ट्र के निर्माण और समाज के उत्थान एवं अभ्युदय की आशा रखना बिना तेल व बत्ती के दिया हाथ में लेकर घर में उजाला करने की दुराशा-मात्र है। ऐसे साहित्य की सर्वथा उपेक्षा करके आर्यसमाज की वर्तमान और भावी सन्तान में आशा, उत्साह और महत्वाकांक्षा का संचार करने की आशा कभी तीन काल में भी पूरी नहीं हो सकती। क्या हम लोग इस अभाव की पूर्ति कर समाज, देश, जाति तथा राष्ट्र के लिये आत्मोत्सर्ग करने वालों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।

यदि यह जीवनी कुछ अंशों में भी इस अभाव की पूर्ति कर, स्वनामधन्य चाचा जी के नाम को हिन्दी-साहित्य में अमर बना उनके स्मृति-स्तम्भ का कुछ भी काम दे, कुछ थोड़े से पाठकों के

हृदयों में चरित्र-नायक के समान दीन-हीन एवं पराधीन अवस्था में पड़ी हुई मातृजाति के उत्थान की भावना पैदा कर सकी, तो लेखक अपने यत्न को सफल हुआ समझेगा।

उर्दू डायरियों और कागज़ों से आवश्यक नोट्स लेने में 'अर्जुन' के सहकारी-सम्पादक श्री जगन्नाथ जी, 'हिन्दुस्तान' के भूतपूर्व सहकारी सम्पादक पण्डित श्रीरामजी शर्मा तथा चिरंजीव देवदत्त ने जो सहायता दी है और पुस्तक की मूल प्रति को पढ़ कर केवल दो सप्ताह में उसे प्रकाशित करने में लाहौर के भारती प्रिंटिंग प्रेस के स्वत्वाधिकारी भाई हरिकृष्ण जी 'प्रेमी' ने जो कृपा की है, उसके लिये लेखक सभी सुहृदय मित्रों का हृदय से आभारी है।

"अलंकार-बन्धु"
रोशनारा रोड़, दिल्ली
गान्धी-जयन्ती १६३७ सत्यदेव-विद्यालंकार

पहिला भाग

"लाला देवराज जी लाखों में एक हैं। उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिये जो उद्योग किया है, उसको जितनी तारीफ़ की जाए, कम है।......इस संस्था को देख कर दिल ख़ुश हो जाता है। सब कन्यायें बड़ी साफ और होनहार हैं। उनकी देख-भाल ख़ूब अच्छी तरह की जाती है।......प्रान्त में कोई और ऐसा स्कूल नहीं है' जो मुझे इससे अधिक पसंद हो और जिसके लिये मेरे दिल में इससे अधिक आदर हो।"

—डब्ल्यू. बैल एम. ए., सी. आई. ई.

(पंजाब शिक्षा-विभाग के डाईरैक्टर)

—२७ नवम्बर १९०५।

१, "लाखों में एक"।
२. प्रजापति परिवार।
३. "साँवले साह्"।
४. मि० लिबर्टी उर्फ सत्यप्रकाश।
५. महान् सौभाग्य।
६. सद्‌गृहस्थ।
७. जालन्धर में।
८. जैलदार और आनरेरी मजिस्ट्रेट।
९. अखबारी दुनिया में।
१०. धर्म-संकट।
११. आर्यसमाज में।

१—लाखों में एक

"लाखों में एक'—यह राय स्वर्गीय लाला देवराज जी के सम्बन्ध में १६०५ में पंजाब शिक्षा-विभाग के डाईरैक्टर श्री डबल्यू० बैल ने तब प्रगट की थी, जब वे उन द्वारा संस्थापित 'कन्या-महाविद्यालय' का निरीक्षण करने के लिए जालन्धर पधारे थे। लाहौर के क्वीन मेरी कालेज के संचालकों ने लड़कियों के लिये कालेज के साथ 'होस्टल' खोलने का प्रस्ताव सरकार के सामने पेश किया था। सरकार उस प्रस्ताव को एकाएक स्वीकार नहीं कर सकी। जब कि उनकी शिक्षा के लिये स्थापित किये गये विद्यालयों तथा अन्य संस्थाओं का खुल्लम-खुल्ला विरोध किया जाता था, तब उनके लिये कालेज के साथ 'आश्रय-गृह' की स्थापित करने के प्रस्ताव का जनता द्वारा स्वागत किये जाने की आशा नहीं की जा सकती थी। इसी सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करने के लिये श्री बैल २० नवम्बर १६०५ को जालन्धर आये। उन्होंने 'कन्या-महाविद्यालय की भली प्रकार देखभाल की। वे महाविद्यालय की सफलता पर इतने मुग्ध हुये कि उन्होंने लिखा कि 'प्रान्त में लड़कियों के लिये ऐसी कोई दूसरी संस्था नहीं है, जिसको मैंने इससे अधिक पसन्द किया हो, और जिसके लिए मेरे दिल में इससे अधिक सम्मान हो।' ऐसी सफल संस्था के संस्थापक होने से उनने

देवराज जी को "लाखों में एक" लिखते हुये लिखा था कि "स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में किये गये उनके यत्नों की पूरी तारीफ़ करना मेरे लिये सम्भव नहीं है।"

पंजाब-सरकार को जो काम १६०५ में शुरु करना असम्भव प्रतीत हो रहा था, हमारे चरित्र-नायक ने उसकी नींव उससे भी करीब बीस वर्ष पहिले डाली थी ।

उस समय उनके मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का अनुमान भी सरकार की इस कठिनाई से लगाया जा सकता है। हिन्दू समाज की स्त्रियों के प्रति बिगड़ी हुई भावना समाज-सुधार के विस्तृत क्षेत्र में काम करने वालों के मार्ग में हिमालय के समान रुकावट बनी रही है। स्वर्गीय राजा राममोहन राय को सती-प्रथा को रुकवाने और स्वर्गीय श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को विधवा-विवाह के लिये कानून की अनुमति प्राप्त करने के लिये जो घोर परिश्रम करना पड़ा था, उससे स्त्री जाति के प्रति हिन्दू-समाज की कुत्सित भावना का पता चलता है। रूढ़ी, परम्परा, सामाजिक मर्यादा और धार्मिक अन्ध-विश्वास के अलावा कुल की मर्यादा एवं घर के बड़प्पन के विचार भी स्त्री-जाति के प्रति पक्षपात से भरे हुये थे। धर्म की सारी व्यवस्था, समाज की सारी रचना, शास्त्रों का सारा विधान और कुल एवं परिवार का सारा आचार-विचार कुछ ऐसा बन गया था कि स्त्री-जाति के प्रति सहानुभूति एवं सद्भावना तक प्रगट करना अक्षम्य अपराध माना जाता था। उसको नितान्त दीन-हीन एवं पराधीन अवस्था में डाल दिया गया था। हिन्दू-समाज में स्त्रियों पर पुरुषों का कुछ ऐसा कुशासन कायम कर दिया था कि

उनके अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व की कोई प्रतिष्ठा या महत्त्व समाज की नज़रों में शेष नहीं रहा था। इसी लिये उनको प्रगति या उन्नति की कोई ज़रूरत महसूस नहीं की जाती थी। शताब्दियों की क्रमागत धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि स्त्री पुरुष के स्वेच्छाचार-पूर्ण शासन में केवल शूद्रा और पतिता रह गई। उसकी स्वाभाविक श्रद्धा भक्ति और मर्यादा में रहने की जन्म-सिद्ध प्रवृत्ति का दुरुपयोग कर उसकी धार्मिक भावना को उसके विरुद्ध काम में लाया गया। धर्माचार्यों, राजशासकों और समाज-पतियों सब ने मिल कर उसको विषमता-पूर्ण स्थिति तथा अन्याय-पूर्ण नियमों में बुरी तरह जकड़ दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि वह घर की चहारदिवारी में बन्द रहने वाली अविश्वसनीय गृहिणी, सदा पराधीनता का दुःख भोगनेवाली दासी, घर-परिवार तथा जाति से त्यागी हुई विधवा, निराश्रित हो अपने पेट के लिये अपने सर्वस्व—सतीत्व को बेचने वाली समाज से सताई हुई वेश्या, धर्माचार्यों की पोप-लीला का शिकार हो धर्म-मन्दिरों में नाचने वाली देवदासी और दुर्व्यसनी शासकों के भोग-विलास तथा साधन-सम्पन्न समाजपतियों के पापाचार एवं आमोद-प्रमोद की वस्तु बन राजप्रासादों तथा महलों में नाच-गान करने वाली वारांगना बन गई। सभी तरह और सभी जगह, सभी देशों और सभी जातियों, सभी सम्प्रदायों तथा सभी प्रान्तों में उसको पुरुष के अधीन कर दिया गया। उसमें 'सोलह गुना काम' बता कर, उसको नैसर्गिक तौर पर 'दुराचारिणी' कह कर, उसको स्वभावतः 'अबला' ठहरा कर, उसकी आत्मिक-मान-

सिक एवं शारीरिक कमज़ोरियों का अतिरंजित चित्र खींच कर और उसमें 'एक सौ एक' दोष लगा कर उसको सदा अपने अधिकार में रखने का यत्न स्वार्थी पुरुष ने उसके चारों ओर फैला दिया। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि उसके विरुद्ध सभी देशों के धर्माचार्यों, शासकों और पंचों ने कोई भीषण षड़यन्त्र रच लिया हो। इस भीषण षड्यन्त्र के विरुद्ध जिसने भी विद्रोह करने का साहस दिखाया, उसे इन सबके रोष का शिकार होना पड़ा। कौन अपने अधिकार का छिनना और अपनी अनियन्त्रित सत्ता का कम होना सहन कर सकता है? यह षड्यन्त्र स्त्री पर पुरुष के पूर्ण अनियन्त्रित सत्ता की स्थापना के लिये ही रचा गया था। इसलिये उसके विरुद्ध विद्रोह करना आसान न था। जिन महा पुरुषों ने इस युग में जन्म लेकर इस भीषण विद्रोह को सफल बनाने में अपने को खपा दिया, उनमें हमारे चरित्र नायक का स्थान यदि सबसे पहिला नहीं तो सबसे पहिली पंक्ति के महापुरुषों में अवश्य है और यदि बंगाल में उन महापुरुषों में सबसे पहिला स्थान राजा राममोहनराय का है, तो पंजाब में निस्सन्देह स्वनामधन्य लाला देवराज जी का है।

स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं, किन्तु महिला-समाज की सार्वजनिक और सर्वाङ्गीण उन्नति के विस्तृत क्षेत्र में की गई आपकी सेवायें इतनी महान् और व्यापक हैं कि उनकी वजह से आपका स्थान अपने समय के समाज-सुधारकों की श्रेणी में अग्रगण्य है। हिन्दी-साहित्य की वाटिका में आपने तब पौधे लगाये, जबकि कहीं बीज बखेरने की भी जगह दीख नहीं पड़ती

थी। शिक्षा-शास्त्री, समाज-सुधारक और साहित्य-सेवी होने के साथ साथ आप एक कुशल लेखक, सुयोग्य सम्पादक, सफल उपदेशक, निर्भीक प्रचारक और प्रभावशाली भजनीक भी थे। सार्वजनिक जीवन के हर एक क्षेत्र में काम करने वाला व्यक्ति आपके जीवन को अपने लिये आदर्श बना सकता है। आपका धैर्य, साहस, श्रद्धा, विश्वास एवं लगन, सादगी, सरलता, सात्विकता, सहृदयता एवं मिलनसारिता और प्रतिभा-सम्पन्न व्युत्पन्नमति आदि सद्गुण मृत व्यक्ति में भी जीवन, जागृति, स्फूर्ति, चैतन्य और उत्साह का सञ्चार कर सकते हैं।

७५ वर्ष की लम्बी आयु के अन्तिम दिन तक आपका जीवन ऐसा कर्मशील रहा कि उसकी कहानी, इस पार और उस पार का कहीं किनारा न दीखने वाले अथाह समुद्र की छाती पर तैरते हुए जहाज़ों को राह दिखाने वाले प्रकाशस्तम्भ के समान हमारे देश की वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए अनन्त काल तक पथ-प्रदर्शक का काम दे सकती है। लौकिक व्यक्तित्व और पार्थिव देह के विनाश के बाद केवल आपकी जीवन-कहानी के रूप में आपका अक्षय कीर्तिस्तम्भ हमारा नेतृत्व करने के लिए हमारे पास रह गया है। ऐसे आदर्श पुरुषों की जीवनियों से देश, जाति तथा राष्ट्र के गौरवशाली इतिहास के अध्याय लिखे जाते हैं। प्रस्तुत जीवनी उसी इतिहास के एक अध्याय के ऐसे पन्ने हैं, जिन पर आने वाली पीढ़ियाँ अनन्त काल तक वास्तविक गौरव एवं अभिमान अनुभव करती रहेंगी।

२—प्रजापति-परिवार

पाँच नदियों की गोद में खेलने वाला पञ्जाब प्राकृतिक दृष्टि से आबाद एवं समृद्ध प्रदेश है। उसके निवासी दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा कुछ अधिक सुखी, सम्पन्न और हृष्ट-पुष्ट हैं। विदेशी महत्वाकांक्षी सम्राटों के हमलों के कारण सदा ही युद्ध की क्रीड़ा-स्थली बने रहने पर भी इस प्रान्त पर प्रकृति का आशीर्वाद होने से इसकी समृद्धि में विशेष अन्तर नहीं आया। सतलुज और व्यासा के बीच के 'दुआबा' प्रदेश पर प्रकृति की शेष प्रान्त की अपेक्षा भी अधिक कृपा रही है। इस समय इसमें जालन्धर और होशियारपुर दो मुख्य ज़िले हैं। जालन्धर ज़िले के मुख्य शहर का नाम भी जालन्धर है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह शहर कितना पुराना है, इसका ठीक ठीक पता नहीं है, लेकिन पौराणिक जनश्रुति के अनुसार यह शहर बहुत पुराना है। पुराणों के प्रसिद्ध दैत्य 'जलन्धर' की यह राजधानी बताई जाती है। मुसलमानी शासन-काल से यह शहर बहुत पुराना है। इसका पुराना परकोटा, दीवारें और दरवाज़े इस बात की साक्षी हैं कि यह शहर और पुराने शहरों की तरह कभी किला-नुमा बना हुआ था। पर, अब उस क़िले की सीमा को पार कर शहर चारों ओर फैलता चला जा रहा है। कभी कोट किशनचन्द शहर से बिलकुल अलग एक स्वतन्त्र बस्ती के रूप में बसा हुआ

था, लेकिन अब वह शहर का एक मुहल्ला बन गया है और दोनों के बीच का सारा खाली स्थान आबाद हो गया है।

सोन्धी-वंश के रायज़ादा किशनचन्द ने इस कोट को बसाया था और उनके ही नाम पर उसका नाम 'कोट किशनचन्द' आज तक मशहूर है। यह नहीं मालूम कि सोन्धी उपजाति का निकास असल में कहाँ से हुआ और वे जालन्धर में कब से आकर बसने लगे? सोन्धियों के फ़िरके काबुल और लखनऊ तक फैले हुए हैं। जालन्धर के अलावा अम्बाला और होशियारपुर में भी उनकी विशेष आबादी है। उन के पूर्वज पुरोहित वाली जाति के ब्राह्मण हैं। जालन्धर में महगल, सोन्धी, बत्ता और थापर चार हिन्दू जातियाँ पुराने समय से आबाद हैं। पहिली तीन 'रायज़ादा' कही जाती हैं। पञ्जाब की हालत जिसकी लाठी उसकी भैंस की सी हो रही थी। सिक्खों का सितारा बुलन्द हो रहा था। रायज़ादा किशनचन्द के नेतृत्व में सोन्धी लोगों ने ईस्वी १६७१ में जालन्धर के पास की कुछ ज़मीन पर कब्ज़ा जमा कर एक कोट बसा डाला। उस समय शहर पर लोधियों और पठानों का कब्ज़ा था। केवल कोट किशनचन्द पर हिन्दुओं की आबादी थी। लोधियों और पठानों ने दग़ा देकर सोन्धियों से कोट छीन लिया। किशनचन्द मुश्किल से जान बचा कर भागे। उनके बहुत से साथी मार डाले गए। दोआबा पर महाराज रणजीतसिंह का अधिकार कायम हो जाने पर सोन्धी लोग इधर-उधर से वापिस आकर फिर कोट किशनचन्द में बस गए। चरित्र-नायक के पड़दादा

का जन्म ख़ानाबदोषी की हालत में जाटों के एक गाँव में हुआ था। इसी से उनका नाम 'जटमल' रखा गया था। १८३२ में एक बार फिर सोन्धियों की हालत ख़राब हो गई। इसका कारण आपस की फूट थी। वे दर दर के भिखारी बन गए। कुछ लोग थोड़ी-सी ज़मीन पर कुओं के सहारे खेती करके जीवन बसर करने लगे।

लाला जटमल ने पहिले ७) महीने पर एक दीवान के यहाँ नौकरी की, लेकिन बाद में लेन-देन का काम शुरू किया। इसमें उनको काफ़ी मुनाफ़ा हुआ। सोन्धियों की समृद्धि का पुराना ज़माना लौट आया। ग़रीबी से समृद्धि हासिल करने पर भी लाला जटमल का जीवन बहुत ही सादा और सात्विक बना रहा। सारी आयु उन्होंने किसी भी मादक द्रव्य का सेवन नहीं किया। यहाँ तक कि तम्बाकू भी नहीं पी। लाला जटमल जी के पुत्र लाला जमनादास भी लेन-देन के काम में लगे रहे। उन्होंने नौकरी नहीं की। लेन-देन के काम से घर को समृद्धिशाली बनाने में उन्होंने कोई बात उठा नहीं रखी। उनके पुत्र लाला सालिगराम ने साहूकारी के साथ नौकरी भी की और इतनी समृद्धि हासिल की कि शहर के सर्वमान्य रईसों में उनकी गिनती होने लगी। वे बहुत किफ़ायतशार, ईमानदार और सात्विक वृत्ति के आदमी थे। बात के धनी और निरभिमानी होने से उनकी साख और प्रतिष्ठा बहुत जमी हुई थी। ब्राह्मणों में श्रद्धा और सनातन-धर्म में आस्था होने पर भी उन्हें शिक्षा से बहुत प्रेम था। वे प्रायः कहा करते थे कि "केवल सरकारी नौकरी पर

ही प्रतिष्ठा, धन-दौलत व ख़ुशहाली का दारोमदार नहीं है; बल्कि जो लोग सिद्धान्त पर चलने वाले, मितव्ययी और ईमानदार हैं, वे नौकरियों से बढ़ कर आराम व इज्ज़त प्राप्त कर सकते हैं।" अपने इस कथन को मालूम होता है कि उन्होंने अपने जीवन के लिए आदर्श बना लिया था। सम्भवतः यही कारण था कि स्वयं सरकारी नौकरी से मुँह मोड़ने के बाद आपने कभी उधर देखा तक नहीं और अपनी सन्तान को भी सरकारी नौकरी के लालच से बहुत दूर रखा। वैसे उन दिनों में सरकारी नौकरियों के लिए लोग तरसते थे और अपनी सन्तान को सरकारी नौकरी में लगाने के लिए चोटी से एड़ी तक का पसीना एक करने में लगे रहते थे।

आपके घर में चार पुत्रों और एक कन्या ने जन्म लिया। पुत्र बालकराम, देवराज, भक्तराम और हंसराज के नाम से मशहूर हुये और कन्या शिवदेवी के नाम से। इसी क्रम से पाँचों का जन्म हुआ।

यद्यपि सालिगराम जी अपने पिता के इकलौते बेटे थे और आपकी भी अधिक सन्तानें नहीं हुईं, तो भी आपका अच्छा-ख़ासा परिवार था। चरित्र-नायक के दादा, दादी और परदादा चिरकाल तक जीवित रहे। उनकी दो बुआ और पिता जी की एक बुआ भी जीवित थी। अच्छा-बड़ा परिवार था। चारों भाइयों की सन्तानों को मिलाकर सारे परिवार को सहज में प्रजापति का परिवार कहा जा सकता है। सारे परिवार में कुल मिलकर कोई ४० व्यक्ति रहे होंगे। पिता के देहान्त के बाद भी कुछ वर्षों तक संयुक्त

परिवार कायम रहा। सबका खाना इकट्ठा बनता था और इकट्ठे ही सब रहते थे। परिवार में प्रेम और शान्ति का राज्य रहा, जिसका अधिकांश ध्येय माताजी के शान्त, सहिष्णु स्वभाव तथा उनके समान व्यवहार को था। पुत्र-पौत्र एवं धन-धान्य से समृद्ध इस परिवार पर जैसी लक्ष्मी की कृपा हुई, वैसी ही सरस्वती की भी। देवराज जी की शिक्षा तो अधिक नहीं हुई, लेकिन भक्तराम जी और हंसराज जी को विद्याध्ययन के लिये विलायत भेजा गया। दोनों वहाँ से बैरिस्टरी पास करके लौटे। हंसराज जी ने वकालत नहीं की। उनका झुकाव महात्मा गान्धी के असहयोग एवं सत्याग्रह-आन्दोलन की ओर इतना अधिक हुआ कि वे उसी में रम गये। अपने प्रान्त के राष्ट्रीय नेताओं में उनका अपना ही स्थान है। जालन्धर शहर को उन पर नाज़ है। अपने प्रान्त के गौरव की पताका को उन्होंने कभी भी नीचे नहीं झुकने दिया। केन्द्रीय असेम्बली के लिए स्वराज्य पार्टी एवं कांग्रेस की ओर से आप सदा ही शान के साथ चुने जाते रहे हैं। आपके ही समान स्वर्गीय रायज़ादा भक्तराम जी का भी अपने प्रान्त में एक विशेष स्थान था। जालन्धर के तो वे 'बेताज के बादशाह' थे। हिन्दू-मुसलमान सभी में उनकी एक-सी इज़्ज़त थी। बैरिस्टरी इतनी चमकी कि प्रान्त के पहली श्रेणी के बैरिस्टरों में उनका नाम था। बैरिस्टरी से यश और धन दोनों का सम्पादन दोनों हाथों से किया। सरकार ने 'रायबहादुर' का ख़िताब दिया। १९२० में असहयोग-आन्दोलन शुरू होने पर उसे तृणवत् त्याग दिया।

भाइयों के समान बहन शिवदेवी भी बहुत सौभाग्यशालिनी

रहीं। उनके शुभ-विवाह से सोन्धी-परिवार के सोने में सुगन्ध पैदा हो गई। लाला मुन्शीराम जी के साथ उनका विवाह हुआ। ये लाला मुन्शीराम वकील ही बाद में आर्यसमाज के नेता एवं गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रतिष्ठाता होने से "महात्मा" और फिर स्वामी श्रद्धानन्द सन्यासी के नाम से प्रसिद्ध होकर 'अमर शहीद' के पद को प्राप्त हुए।

चरित्र-नायक लाला देवराज जी ने तो सारे परिवार को ही अमर-पद प्राप्त करा दिया है। उनके नाम के साथ सोन्धी-परिवार का नाम चिरकाल तक याद किया जाता रहेगा। सामाजिक पक्षपात, धार्मिक अन्ध-विश्वास और परम्परागत रूढ़िवाद के कारण घोर अन्धकार में पड़ी हुई स्त्री-जाति के उद्धार के इतिहास में आपका और आपकी वजह से आपके वंश का नाम भी अभिमान के साथ लिया जायगा। सचमुच उसी का जन्म लेना सार्थक है, जिसके जन्म लेने से सारे वंश का नाम अमर हो जाय।

३—साँवले साह

लाला देवराज जी का जन्म ३ चैत्र १६१७ विक्रमी अथवा ३ मार्च १८६० ईस्वी को हुआ था। माता काहनदेवी जी का सब से अधिक स्नेह आपको ही प्राप्त हुआ और आप सब से अधिक उनकी गोद में खेले। वैसे यह सौभाग्य एक बड़े परिवार में सब से छोटी सन्तान को प्राप्त होता है, लेकिन आप बाल्यावस्था से ही बीमार रहते थे। शरीर दुर्बल था। माता की ममता का ऐसे पुत्र की ओर झुकाव होना स्वाभाविक था। माता जी के जीवन-चरित्र में आपने स्वयं ही लिखा है कि मेरी जन्म-घटना, बाल्यावस्था की बीमारी और रूप-लावण्य की न्यूनता के कारण माता जी को मुझ पर विशेष ध्यान देना पड़ता था। कौड़ी नाम की दाई ने आपको आपके जन्म की जो घटना सुनाई थी, उसका उल्लेख आपने स्वयं ही किया है। आप लिखते है कि "दाई कौड़ी मुझे मेरे जन्म की घटना का वृतान्त इस प्रकार सुनाया करती थी कि, बेटा, जब तुम पैदा हुये तो खुशी की जगह मेरी चीख निकल गई। तुम एक छोटे से पिलपिले, काले रंग के मिट्टी के ढेले की तरह दिखाई दिये और देर तक तुमने साँस भी न ली। तुमको उठाया तो तुम में प्राणों का कोई भी चिह्न न था। मैंने तुम्हें मुर्दा-सा समझ ठण्डी साँस ली। बाहर खड़ी हुई, स्त्रियां पूछती थीं कि क्या हुआ ? मुझे उत्तर देने का साहस ही न होता था। कहाँ तो मैं बधाई की आशा बाँधे हुये थी और अब यह सोचती थी

कि 'मरा हुआ बच्चा' कह कर मुझे रोना पड़ेगा। फिर भी मैं तुम्हारी ओर टकटकी बाँध कर देखती रही। थोड़ी देर बाद तुमने एक लम्बी साँस ली और धीमी-सी रोने की आवाज़ मेरे कान में पड़ी। तब मुझे ढारस हुआ। मैंने बाहर खड़ी हुई स्त्रियों से कहा कि "बधाई, बधाई, बालो का भाई आया।"

माता जब कभी बालक को उठातीं तो डरती रहतीं कि कहीं पिच्चक न जाय। उनका सदा यह ख़्याल रहता था कि एक खोई हुई वस्तु हाथ लगी है। इसलिए वे लालन-पालन में सदा ही बहुत सावधानी रखती थीं। बड़े कष्ट और यत्न से उन्होंने बालक को पाला। बचपन की बीमारियों के कारण माता जी को और भी अधिक कष्ट उठाना पड़ा। दो वर्ष की आयु में कहीं घर में जमाल-गोटे के पड़े हुये बीज उठा कर बालक ने खा लिये। दस्त लग गये। वैद्य और हकीम हार गये। पर, दस्त बन्द न हुए। बालक सूख कर काँटा हो गया। उसके बचने की कोई आशा नहीं रही। हकीमों और वैद्यों से निराश होकर सिविल सर्जन का इलाज किया गया। बालक ने दूसरा जन्म प्राप्त किया।

कुछ ही दिनों बाद एक और दुर्घटना हो गई। बालक लड़-खड़ाता हुआ सीढ़ी पर से गिर पड़ा। सारा शरीर लोहू-लुहान हो गया, आँखें पथरा गईं, शरीर अचेत हो गया। सबने यही समझा कि बालक चल बसा। उसी सिविल सर्जन ने बालक को फिर नया जन्म प्राप्त कराया।

इस प्रकार बालक के जीवन को जन्म-दिन से ही संकटापन्न जान कर मां ने यमराज को धोखा देने के लिये बालक को

बालिका के रूप में रखना तय किया। जिस परिवार में बालक पैदा होते ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं, उसमें मां बालक को लड़की के रूप में पालती हैं। इसी प्रकार जिस बालक के बचपन में बचने की उम्मीद नहीं रहती, उसको भी बालिका बना दिया जाता है। अब यह रिवाज़ प्रायः लुप्त होता जाता है, लेकिन उस समय यह आम रिवाज था। बालक देवराज के कानों के साथ नाक भी बेधी गई, जिसमें बुलाक डाला गया और सिर पर चौक भी गूंथा गया। पाँच वर्ष की उमर तक बालक को इसी शक्ल में रखा गया। तब भी शायद उससे छुटकारा न मिलता, यदि एक लालची दरजी ने बालक के सिर पर से चौक चुरा न लिया होता।

बहिन-भाइयों के मुकाबले में देवराज का रूप-रंग भी कुछ स्याह था। बाकी सब रूपवान समझे जाते थे और बालक देवराज की गिनती उनमें नहीं होती थी। मां-बाप और घर के नौकर तक बालक को 'साँवले साह' के नाम से पुकारा करते थे। स्याह रंग के साथ बालक की नाक भी सदा बहती रहती थी। कुड़ते और कोट की बाँहों पर सींड़ लगा रहता था। इसी से बालक का नाम 'नली चोचो' पड़ गया था। बालक के नाना अक्सर कहा करते थे कि "अरे साँवले साह तेरे नाक की गङ्गा कभी थमेगी कि नहीं।"

इन सब बातों से बालक देवराज को माता का सब बहिन-भाइयों की अपेक्षा कहीं अधिक स्नेह मिला। वह उनकी गोद में सब से अधिक खेला। वे उसे कन्धे पर उठाये फिरा करती थीं। माता के इस स्नेह और लाड़-प्यार का एक बड़ा लाभ यह हुआ

कि बालक के हृदय पर उनके धार्मिक एवं सात्विक जीवन का बहुत अधिक असर पड़ा। शिशु-अवस्था के बाद बालक जब कुछ बड़ा हुआ तब माता जी उसे अपने साथ कथा सुनने और साधु-सन्तों के दर्शन करने के लिये ले जाने लगीं। घर के बालकों को माताजी भजन, स्तोत्र और बारहमासा आदि याद कराया करतीं थीं। बालक देवराज उनको बहुत रुचि के साथ सब से जल्दी याद कर लिया करता था। माता जी के साथ एकादशी आदि के व्रत भी रखने शुरू किये। माता जी ध्यान-पूजा आदि में निमग्न रह मौन रहतीं, तो बालक भी मौन-व्रत धारण करता और माता जी के साथ चौके का नियम भी पालता। बालक की इस धर्म-प्रकृति को देखकर माता जी ने पीतल का एक छोटा-सा सिंहासन मँगा दिया। उस पर बालक अपने ठाकुर जी को रख कर बड़ी श्रद्धा और प्रेम से उनकी पूजा किया करता था। बालक पर माता की ममता एवं स्नेह बढ़ता गया और उस पर माता के जीवन की गहरी छाप लगती चली गई।

सात्विक वृत्ति का होते हुये बालक देवराज बहुत चंचल और उपद्रवी था। वैसे माता-पिता में बालक की अगाध श्रद्धा थी। उनका कहना मानने में कभी चूकता नहीं था। लेकिन, बचपन की चञ्चलता उसमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। बालक की सात वर्ष की अवस्था होगी। गरमी के दिन थे। कड़ी धूप में दिन भर खेलने-कूदने से आँखें दुखने आ गई। माता जी धूप में जाने से मना करतीं, किन्तु खेल-कूद से मन मानता नहीं। आँख बचा कर घर से नौ दो ग्यारह होने में देर नहीं लगती। एक दिन

दुपहर को माँ आँखों मे जिस्त डाल, कमरे मे बिठा, बाहर से किवाड़ बन्द कर किसी के घर मिलने चली गईं। उन दिनों कोट के बालक 'भां भां बिल्लियों' का खेल ख़ूब खेला करते थे। बालक देवराज को भी उस खेल का ख़ूब शौक़ था। भीतर बालक को रोते देख किसी ने दरवाज़ा खोल दिया। रस्सा खुलने पर गाय के बछड़े की तरह वह एक छलाँग मे घर के बाहर जा पहुँचा और बाल-मण्डली में जा शामिल हुआ। कीचड़-पानी उछाला जाने लगा। बालक आँखों का दुखना, जिस्त का डालना और माँ की ताड़ना सब भूल गया। माँ लौटीं, तो जेल से क़ैदी फ़रार था। माता जी एक आदमी को साथ ले खोजती हुई कोट से एक फर्लांग दूर गुफ़ा पर पहुँची। क़ैदी ने भागने की कोशिश की, लेकिन पकड़ा गया। घर लाकर कीचड़ में लथ-पथ बालक को स्नान कराया गया और कपड़े बदल फिर कोठरी में बन्द कर दिया गया। सादी क़ैद की जगह सख्त क़ैद की सज़ा हुई। बालक ने रो-रो कर जब घर सिर पर उठा लिया, तब दरवाज़ा खोला गया। ज़मीन पर नाक से सात लकीरें खिंचवाई गईं और यह प्रतिज्ञा ली गई कि "फिर धूप में न जाऊँगा।"

उन्हीं दिनों में कोट में बृजू पांधा नाम का एक बूढ़ा ब्राह्मण रहा करता था। गेहूं के काम में नुक्सान आ जाने से उसका दिमाग़ कुछ फिर गया। गली-रास्ते चलते लोग उसे छेड़ा करें तो वह गालियों की बौछार करने लग जाया करता। उसका छेड़ का नाम था "गौरु काका।" बालक ऐसे आदमी को तुरन्त खिलौना बना लेते हैं। बालक देवराज की मण्डली भी

उसे खूब चिढ़ाया करती थी। खेलना भूल कर वह उस ब्राह्मण के पीछे पड़ जाया करती थी। ब्राह्मण बालकों के पीछे भागता और जो हाथ लग जाता, उसी पर सारा गुस्सा निकाल लेता। एक दिन मण्डली के सब बालक तो भाग गए, लेकिन देवराज उसके हाथ लग गया। कान पकड़े थप्पड़ लगाता हुआ वह बालक को पास की एक भट्टी पर ले गया और वहाँ उसके बदन पर राख मल कर उसे भूत बना दिया। पास से आने-जाने वाले बालक को छुड़ाने के बजाय तमाशा देखने के लिए उसको और चिढ़ाने लगे। चिढ़ कर वह बालक की दुर्गत करता रहा। घर पर दादी को पता चला तो उसनें आकर बालक को बचाया। कुछ दिनों बाद वे ही गौरु काका घर पर न्यौता जीमने आये। पहिले तो बालक डरा, लेकिन जल्दी ही कुछ साथियों को आस-पास से बटोर लिया और उस दिन की दुर्गत का बदला व्याज-सहित वसूल कर लिया। बच्चों ने चिढ़ाना शुरू किया और गौरु खाना खाना भूल कर गालियों की तोप दागने में लग गया।

त्यौहारों पर बालक देवराज की मण्डली सारे मुहल्ले में ऊधम मचा देती थी। होली और लोढ़ी पर तो कहना ही क्या है? १८८४ की डायरी में ११ जनवरी को लोढ़ी के दिन आपने इन दिनों की याद में कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं। उसमें लिखा है कि "आज लोढ़ी का पवित्र त्यौहार है। कुछ वर्ष पहिले बचपन में हम इस दिन का कैसा इन्तज़ार किया करते थे? सबेरा हुआ कि ढोल लेकर लोढ़ी माँगने निकल पड़ते थे। उपलों की लूट में हम

सारी बहादुरी लगा देते। जी यही चाहता था कि हमारी लोढ़ी की ढेरी सब से अधिक ऊँची हो। दिनभर सिर पर उपले ढोते थे। दूसरों से, खास कर लड़कियों से, उपले छीनना बहुत बड़ा काम समझते थे। लड़कियाँ अपनी लोढ़ी अलग माँगतीं और अलग ही जलाती थीं। वे भी लड़कों की लोढ़ी का सामान लूटा करती थीं। रात को छापे मारना, कभी कामयाबी हासिल करना, तो कभी पकड़े जाकर मार खाना। कैसा था वह ज़माना? वे रातें कब भूल सकती हैं, जिनमें लोढ़ी का जंग हुआ करता था। दो पार्टियाँ होकर बाकायदा लड़ाई होती थी। घर वालों के नाकों दम रहता था। इसलिए घर लौटने पर माता-पिता की मार पड़ती थी और सवेरे मदरसे में मियाँ जी से पिटन्त होती थी। यह सब कैसे भुलाया जा सकता है? लड़कपन कैसा अच्छा ज़माना है? फिर जिसके सिर पर माता-पिता का साया हो, उसका कहना ही क्या है? मुझे उस ज़माने की याद से खुशी नहीं होती, मगर अफ़सोस होता है। एक तो यह कि खुशी का ज़माना उतर गया, दूसरा यह कि उस बचपन की उम्र में कुछ न किया।"

भले ही देवराज जी को अफ़सोस हो, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि माता-पिता के साये में उनका बचपन बहुत अच्छा बीता। बचपन की चंचलता विद्यार्थी-जीवन के शुरू दिनों में भी बनी रही।

१०–१२ बर्ष की आयु में बालकराम और देवराज को जालन्धर के मिशन-स्कूल में भरती किया गया। वहां गणेश आदि का खण्डन

होता था और ईसाइय्यत के संस्कार डाले जाते थे। बच्चों को उनसे बचाने के लिये पिता जी ने घर में एक ज्योतिषी पण्डित को धर्म-शिक्षा की पढ़ाई के लिये नियत कर दिया। पण्डित जी ने 'विष्णु-सहस्त्रनाम' रटाना शुरू किया। स्कूल में सुनी गई बातों के बारे में यदि कुछ पूछा जाता, तो गुरु जी कुछ जवाब न देकर धमका देते कि "ख़बरदार! ऐसे शब्द मुँह से न निकालो, बेटा!" कोई सप्ताह भर तो यह क्रम चला, लेकिन बाद में बालकों की चञ्चलता जाग उठी। उसके बाद जो बीती, उसका वर्णन चरित्र-नायक के शब्दों में ही देना ठीक होगा। आपने लिखा है कि "रात के समय पण्डित जी पढ़ाया करते थे। पण्डित जी से हमने छेड़ख़ानी शुरू की। हम चिराग़ बुझा देते थे और पण्डित जी हैरान होकर बाहर निकल जाते थे। हमें हर रोज़ के लिये यह खेल मिल गया। दो-तीन दिन बाद चिराग़ बुझा कर हमने पण्डित जी के मुक्के बजाने भी शुरू कर दिये। इस दुर्गत से बचने के लिये गुरु जी ने एक उपाय सोचा। वह यह कि चिराग़ हम से दूर रखा जाने लगा। हमने भी एक उपाय ढूँढ़ निकाला। चिराग़ को धागा बाँध कर बैठ जाते। गुरु जी का सहस्त्रनाम का पाठ शुरू होता कि धागा खींच-कर बत्ती बुझा दी जाती और सब पण्डित जी पर टूट पड़ते। एक दिन पण्डित जी बहुत तिल-मिलाये और गुस्से में उन्होंने डण्डा सम्भाल लिया। दरवाज़ा बन्द कर उन्होंने उसे घुमाना शुरू किया। हम दोनों खूँटी पर चढ़ कर बच गये। गुरु जी का अपना लड़का अनन्तराम उनके

हाथ लग गया। उसकी उन्होंने खूब मरम्मत की। शोर सुनकर पिता जी आये। हमें डाँट पड़ी और गुरु जी को विदा दे दी गई। इस तरह हमारी 'धर्म-शिक्षा' की पढ़ाई का अन्त हो गया।"

अपने 'खिलाड़ीपन' का वर्णन भी आपने बहुत सुन्दर किया है। आप लिखते हैं कि "मैं बड़ा खिलाड़ी था। मेरे ज़माने में क्रिकेट आदि का रिवाज़ न था। हम (१) गुल्ली-डण्डा, (२) कोड़ला जमालशाही, (३) दौड़ लगाना, (४) कुश्तियाँ और (५) तैरना आदि ख़ूब चाव के साथ खेला करते थे। कोट के लड़कों ने एक फ़ौज बना रखी थी। मैं उसका सेनापति था। हमने लकड़ी की तलवारें और बाँस की कमानें बनाई हुई थीं। हमारी फ़ौज का एक झण्डा भी था। फ़ौज में करीब २० लड़के थे। बिगुल बजते ही सब धावा बोलने को तय्यार हो जाते थे। लोढ़ी के दिनों में तो धावा बोल कर कोट के पास के पेड़ भी काट लिया करते थे। दौड़ने में सारी फ़ौज बहुत होशियार थी। इसलिए धावा बोल कर कामयाबी हासिल करने के बाद दौड़ आना बहुत आसान था। एक बार सिंघाड़ों के तालाब पर धावा बोला गया। सिंघाड़ों को लूटा जा रहा था कि खेत का मालिक आ गया। बिगुल बजा और लूट का माल लेकर फ़ौज भाग खड़ी हुई। दो लड़के मालिक के हाथ आ गये। उनकी उसने ख़ूब गत बनाई। इसके बाद फिर कभी ऐसा धावा नहीं बोला गया।"

लोढ़ी पर यह फ़ौज खूब धावे बोला करती थी। जलाने की चीज़ें उठा लाने में अपने घरों को भी बाद नहीं देते थे। लोढ़ी

की तरह होली पर भी यह फ़ौज खूब धूम मचाती थी, एक बार देवराज और भक्तराम ने मिलकर माता जी पर रङ्ग डाला और मुँह पर गुलाल मल कर भाग खड़े हुये। माता ने पीछा किया। पर बालक न आए माता रङ्ग का पानी और गुलाल लेकर दरवाज़े के पीछे बैठ गईं। कोई एक घण्टा बाद भोजन के लिये दोनों आये। सीढ़ी पर चढ़ते ही दोनों पर धड़ाधड़ रङ्ग का पानी बरसने लगा। दोनों तरबतर हो गये और बाकी कसर गुलाल से पूरी की। इस प्रकार देवराज का बचपन पूरी चञ्चलता में बीता।

इस चञ्चलता में कोई कुटेब उनमें पैदा नहीं हुई। केवल एक घटना इस आयु की ऐसी है, जिसका उल्लेख उस समय के काग़ज़ों में मिलता है। वह यह है कि जब ७–८ वर्ष के थे, तब घर से एक आने की चोरी की थी उन दिनों में मियाँ जी के मदरसे में पढ़ा करते थे। उसी में लुहार का एक लड़का हसन अली पढ़ा करता था। उसके पास एक सुन्दर चाकू था। उस पर मन रीझ गया। उसके लिए उसने आना माँगा। घर से एक आना चुरा कर चाकू ख़रीद लिया। चाकू को छिपाकर हमेशा कोट की जेब में रक्खा जाता था। एकान्त में उससे काम लिया जाता था। एक बार दुपहर को घर की छत पर जाकर उसको खोलने की कोशिश की। चाकू नया, सख्त और तेज़ था। बाँए हाथ की छोटी अँगुली पर उससे घाव आ गया। बड़ी अवस्था में इस घटना को याद करके प्रायः यह कहा करते थे कि मुझे अपने कुकर्म का फल फ़ौरन ही मिल गया।

५—मि० लिबर्टी उर्फ़ सत्यप्रकाश

विद्यार्थी जीवन का प्रारम्भ मालूम होता है कि मियाँ जी के मदरसे से जालन्धर में हुआ। उसके बाद कुछ दिन मिशन स्कूल में भी पूरे हुए लेकिन अधिक समय होशियारपुर के स्कूल में बीता। जो थोड़ी बहुत शिक्षा हुई, वह वहाँ ही हुई। पढाई में आप ख़ूब दिल लगाते थे और परीक्षा में सदा पहिला रहने का आपको शौक़ था। कभी कोई पाठ भूल जाता था, तो उसके लिए विशेष मेहनत किया करते थे। एक बार हुई भूल को दोबारा नहीं होने देते थे अपनी श्रेणी में ही नहीं, किन्तु सारे स्कूल मे आप सब से अधिक होनहार समझे जाते थे। अध्यापकों और मुख्याध्यापक का आप पर असाधारण स्नेह था। आपका जो व्यापक रूप और महान् चरित्र बाद में प्रगट होता है, उसकी छाया उन दिनों मे ही दीखने लग गई थी। लेकिन उन्हीं दिनों में आपके जीवन का कुछ समय अन्धकारमय बीता। आपने स्वयं ही लिखा है कि "कुसङ्गति में फ़ड़ कर, छात्रावस्था में, मेरा कुछ समय ऐसा ख़राब हो गया था कि उसकी याद मुझे बहुत दुःख देती है। उन दिनों मैं बोर्डिंग हाउस में रहा करता था। मुझे कुछ अरसे से शराब पीने की आदत पड़ गई थी। यह अरसा मेरे जीवन का "डार्क पीरियड था।"

यह 'डार्क पीरियड' अधिक दिन नहीं रहा। अपनी मुमुक्षु वृत्ति के कारण आप जल्दी ही सम्भल गए। हर एक घटना को आप बहुत गहराई से देखा करते थे और उससे कुछ-न-कुछ शिक्षा ग्रहण करने की कोशिश किया करते थे। बोर्डिंग हाउस में एक मकान तैय्यार हो रहा था। राज लोग अपना काम समाप्त करके शाम को एक कोठरी में अपने सब औज़ार रख जाया करते थे। रात को विद्यार्थी देवराज उनके सब औज़ारों को इधर से उधर कर दिया करता था। जब सवेरे राज लोग आकर हैरान व परेशान हुआ करते, तब वह बहुत ख़ुशी महसूस किया करता था। ख़ुशी महसूस करने का यह सिलसिला कई दिनों तक जारी रहा। अन्त में राज अपने औज़ार अपने साथ ले जाने लगे। एक दिन विद्यार्थी देवराज उस मकान के पास से गुज़रा संयोगवश एक राज के हाथ से एक बसोली छूट कर उसके सिर पर गिरी सख़्त चोट आई। कई दिन तक बिस्तर पर गुज़ारने पड़े। तुरन्त ही अनुभव हुआ कि "मुझे मेरे कार्यों का फल मिल गया।"

"कर्मों का फल मिलने" की इस भावना ने देवराज जी के लिये पथ-प्रदर्शन का काम किया। इसी के कारण जहाँ कहीं ज़रा-सा पैर फिसलने का साधारण-सा मौका भी आता था कि फ़ौरन ही सम्भल जाते थे। माता जी की सङ्गित से हिन्दू-धर्म के जो संस्कार कोमल हृदय पर पड़ गए थे, उनसे भी अच्छा सहारा मिला आपने स्वयं ही एक जगह लिखा है कि "मैं एक हिन्दू परिवार में पैदा हुआ हूँ। अन्य हिन्दुओं की भाँति मेरा भी ईश्वर-

प्रार्थना पर कुछ-न-कुछ विश्वास था। मैं मूर्ति-पूजा किया करता था, व्रत भी रखा करता था। बहुत छोटी आयु में भूत-चुड़ैलों को भी मानता था, मगर था निडर। पन्द्रह वर्ष की आयु तक मैंने गोश्त नहीं खाया। मेरे पिता और दादा गोश्त खाया करते थे। लेकिन घर के चौके में कभी गोश्त नहीं आया। माता जी ने मुझे कई गीत सिखाये थे। मैं उनका पाठ बड़े प्रेम से किया करता था।"

इन आस्तिक संस्कारों ने ही देवराज जी को सदा सम्भाले रखा। विद्यार्थी-अवस्था में गिरजा जाने का भी आपको शौक़ पैदा हुआ। वहाँ के पादरी की प्रार्थना आपको बहुत पसन्द आई। बाईबिल पढ़नी शुरू की। उसके कुछ पद्य याद कर लिए और उनको बड़े प्रेम के साथ गाना भी शुरू कर दिया। ईसाइयों की तरह घुटने टेक कर कुछ दिन प्रार्थना भी की। उस समय आयु १५-१६ वर्ष के लगभग थी।

बचपन की फ़ौज के समान ही विद्यार्थी जीवन में भी आपकी एक मण्डली थी। उस मण्डली का वर्णन आपके ही शब्दों में देना अधिक अच्छा होगा। आप सन् १८८३ की डायरी के ६ अप्रैल के पन्ने में लिखते है कि आज मैंने अपनी मित्र-मण्डली को मिठाई की जियाफ़त दी। इस जियाफ़त में दोस्तों के नाम भी रखे गए, जो कि निम्न लिखित हैं : –

१. देवराज सत्यप्रकाश · मि० लिबर्टी (Mr. Liberty)
२. लाला फ़कीरचन्द साहब–मि० स्पीकर (Mr. Speaker)

३. लाला कृपाराम साहब... मि० वाइज़ (Mr. Wise)

४. लाला मंगोराम साहब... मि० पायस (Mr. Pious)

५. मि० गुलाम मुस्तफ़ा... मि० पैट्रियट (Mr. Patriot)

६. चौ० अमानत अली ख़ाँ...मि० फ्रैण्ड (Mr. Friend)

७. लाला सुखदयाल साहब... मि० गे (Mr. Gay)

८. डा० दिलबाग़राय . डा० गुड (Dr. Good)

मित्र-मण्डली के इन नामों से यह भी पता चलता है कि उन दिनों में आपका विद्यार्थी-जीवन किस अच्छी सङ्गति में और किन अच्छे विचारों में बीतता था। लोग आपको 'मि० लिबर्टी' कहते थे, तो आप अपने को 'सत्यप्रकाश' कहने में गौरव अनुभव करते थे और उन दिनों में ये दोनों नाम आप पर बिलकुल ठीक बैठते थे। आपने स्वयं लिखा है कि "विद्यार्थी अवस्था में मेरे विद्यार्थी-साथी मुझे 'लिबर्टी' नाम से पुकारा करते थे, क्योंकि मेरे ख़्यालात कुछ अधिक उदार थे। मैं स्वदेशी पर बहुत ज़ोर दिया करता था। .. ...स्कूल में जो लड़के बदमाशी करते थे, मैं उनको सुधारने की कोशिश किया करता और जो लड़के दूसरों से सताये जाते, उनकी सहायता किया करना था। उन दिनों मैं रविवार को व्रत भी रखा करता था।"

स्वदेशी का अनुराग आप में अपने पड़ौसी उमरवद्ध बी०ए० के सहवास से पैदा हुआ था। वे देसी कपड़े के सिवा और कुछ नहीं पहिनते थे। आपने भी वैसा ही करने का प्रण किया और सब देसी कपड़े बनवाये। २३ वर्ष की आयु में १८८३ ईस्वी में लिया

गया स्वदेशी का यह व्रत आपने आजीवन निबाहा। आपने निश्चय किया कि इम्तिहान के बाद आप मुल्की हमदर्दी पर व्याख्यान देंगे और स्वदेशी का स्कूल में प्रचार करेंगे। आर्यसमाज में भी आपने इस विषय पर व्याख्यान देने का निश्चय किया। आप जब ३० मार्च (१८८३) को जालन्धर आये, तो "कौमियत और आर्य-समाज का मुद्दा" विषय पर आपने व्याख्यान दिया, जिसका अच्छा असर पड़ा। १४ अप्रैल को हैडमास्टर से आज्ञा लेकर आपने स्कूल में भी अंग्रेज़ी में व्याख्यान दिया। २॥ बजे स्कूल के बड़े भवन में आपका भाषण हुआ। अमानत अली खां उर्फ़ मि० .फ्रेण्ड ने उसका उर्दू में उल्था किया। अच्छा असर पड़ा। स्कूल में मित्र-मण्डली के ऊपर के नाम मशहूर हो गये। १७ अप्रैल १८८३ की डायरी के पन्ने में आपने लिखा हुआ है कि "मुझे इससे अधिक .खुशी और किस बात से हो सकती है कि स्कूल के विद्यार्थी देशभक्त हो गए हैं मेरे पास आकर वे अक्सर यह पूछते हैं कि अमुक चीज़ .खरीदें कि नहीं ?"

अपने साथियों के साथ अन्याय होना या उनका सताया जाना आपको सहन नहीं होता था। उसी वर्ष जब इनाम बाँटा जाने को था, तब मास्टर .ख्यालीराम ने छः लड़कों के साथ ख़ास रियायत करके उनको नेकचलनी का सर्टिफिकेट दिलाना चाहा। इनमें से कुछ को स्कूल में आये हुए चार ही मास हुए थे। आप कुछ साथियों के साथ हैडमास्टर के पास गए। मुखिया होकर आपने सारा मामला उनके सामने पेश किया। आपकी जीत हुई। रामरत्न

मिश्र नाम के एक लड़के को स्कूल से निकाला गया। उसका कुसूर यह था कि वह स्कूल से भाग गया था। उसके बारे में आपने १० अप्रैल की डायरी में लिखा है कि "सच पूछा जाय तो रामरत्न मज़लूम है। इसको इम्तहान में क्यों नहीं भेजा गया ? क्या वह नत्थूलाल से नालायक था ? नहीं, बिचारा सब कुछ था, पर किसी अमीर का लड़का न था और उसे गाना नहीं आता था। यह सारा ज़ुल्म ख़्यालीराम की नाशाइस्तगी और नाइन्साफ़ी से हुआ "

'मि० लिबर्टी नाम को सार्थक करने के समान आपने 'सत्य-प्रकाश' नाम को सार्थक करने का भी पूरा यत्न किया। सवेरे उठने और मित्रों के साथ लम्बी सैर करने जाने की आपकी पुरानी आदत थी प्राकृतिक सौंदर्य के आप परम उपासक थे। एक बार सैर से लौटते समय एक बगीचे से गुलाब के कुछ फूल तोड़ लिए। इस पर बहुत रञ्ज हुआ और उस दिन शाम को डायरी में लिखा कि "मैंने गुलाब के फूल तोड़े, यह बड़ा पाप किया।"

रविवार को पूरा व्रत रखने के अलावा मङ्गलवार को एक समय भोजन किया करते थे। २४ अक्तूबर १८८० को मङ्गलवार का व्रत रखना भूल गए। उस दिन की भूल का आपको बहुत ख़्याल रहा।

चरित्र-निर्माण की ओर भी आपका ध्यान उन दिनों में विशेष रूप में आकर्षित हो चुका था। स्वाध्याय में रुचि पैदा हो चुकी थी। जब कभी अकेले बैठते थे, तब डायरी में उपदेश की कुछ बातें लिखने लग जाते थे। प्रश्नोत्तर के रूप में भी कुछ बातें लिखते

थे। नीचे डायरी के २३ अप्रैल १८८१ के पन्ने पर लिखे गए कुछ प्रश्नोत्तर दिये जाते हैं। उनकी उन दिनों की विचार-धारा एवं मनोवृत्ति पर इनसे ख़ासा प्रकाश पड़ता है और पता चलता है कि सत्यप्रकाश किस प्रकार 'सत्य' के 'प्रकाश' की खोज में लगा रहता था। वे प्रश्नोत्तर निम्न प्रकार हैं :–

प्रश्न—तेरा चेहरा हर वक्त ख़ुश क्यों रहता है ?

उत्तर—मेरे चार शत्रु हैं—झूठ, मक्कारी, लोभ और क्रोध। वे मुझ से दूर रहते हैं। इस लिये मैं रहता हूं 'ख़ुश'।

प्रश्न—उस दिन तू वृक्ष के नीचे क्यों रोता था ?

उत्तर—वृक्षों के पत्ते गिरते थे, ख़्याल आया कि एक दिन मैं भी मर जाऊँगा।

प्रश्न—तू उन पत्तों को क्यों इकट्ठा करता था ?

उत्तर—उनमें कुछ हरे थे और कुछ पीले। ख़्याल आया कि जवान और बूढ़े मरते हैं दोनों।

प्रश्न—मन के चञ्चल घोड़े को तूने कैसे सुधारा ?

उत्तर—ज्ञान की वागडोर से।

प्रश्न—तू अपना मरना क्यों चाहता है ?

उत्तर—मैं ऐसा हूँ जैसी कि बाँझ औरत या एक बड़ा पेड़, जिसमें फल न लगता हो अथवा गाय जो दूध नहीं देती। ऐसा ही नकारा मैं हूँ। मेरा मरना जीने से बेहतर है।

प्रश्न—मुसीबत के समय तेरा साथी कौन है ?

उत्तर—सन्तोष।

प्रश्न—तू अपनी 'लेडी' को इतना प्यार क्यों करता है?

उत्तर - ईश्वर ने शादी के मौके पर फ़रमाया था कि देखना मैं तुम्हें एक ग़रीब, अबला व निर्बल स्त्री देता हूं। इसे खुश रखना।

प्रश्न—तू अपनी औरत के साथ क्या रिश्ता समझता है?

उत्तर—जान की मालिक, घर का सहारा, ख़ुशी को बढ़ाने वाली और आराम देने वाली।

इन प्रश्नोत्तरों में प्रगट की गई विचार-धारा का जिस स्रोत से उद्गम हुआ था, वह विद्यार्थी-जीवन में कुछ ऐसा प्रगट हुआ कि आयु के साथ-साथ बराबर बढ़ता चला गया। जिन बातों की ओर विद्यार्थी माता-पिता और गुरुओं के आग्रह पर भी ध्यान नहीं देते, उनकी ओर सत्य प्रकाश का ध्यान स्वयं ही आकर्षित हो गया था। १८८० में पिता जी के साथ आप दरबार साहब का मेला देखने गए थे। वहाँ की एक घटना का वर्णन आपने इन शब्दों में अपनी डायरी में लिखा है—'मैंने वहाँ का देवी देवालय भी देखा। एक खूबसूरत औरत वहाँ बैठी हुई थी। मैं दर्शनों के लिये भीतर गया। वह भी मेरे पीछे पीछे हो ली और साथ-साथ परिक्रमा भी करने लगी। ख़ैर—चार आँखें हुईं।......वह सब तरह मुलाकात के लिये तय्यार थी। परन्तु मैंने ठीक न समझा और वहाँ से सीधा अपने निवास-स्थान पर लौट आया।" फिर दूसरी जगह, २३ अक्टूबर १८८० के पन्ने में, लिखा है कि "आज स्कूल के अहाते में दो सुन्दर स्त्रियाँ बैठीं हुई थीं। प्रायः सब विद्यार्थी और कुछ एक अध्यापक उन्हें घूर रहे थे। मेरे ख़्याल में

स्त्रियों को ऐसे स्थान पर बिठाना उचित नहीं" इसी वर्ष की ७ दिसम्बर की डायरी के ये शब्द कितने उच्च आशय को प्रगट करते हैं? आप लिखते हैं कि "यह ज़माना अजब है। बड़ों की इज्ज़त जाती रही। हर एक को अपनी इज्ज़त व आबरू बचाने का ख्याल है।..... अब वह ज़माना नहीं रहा कि छोटे समझाने में आ जाँय। उनको कुछ कहना मानो अपनी पगड़ी धूल में फेंकना है।......लेकिन जो छोटे अपने माँ-बाप या बड़े भाई का कहना नहीं मानते, वे तरह तरह की मुसीबतें उठाते हैं।......आज मैंने स्वयं इस बात का तजुर्बा किया है कि किसी छोटे को कुछ नहीं कहना चाहिए। बेहतर यह है कि उससे किनाराकशी कर लेनी चाहिए। कोई किसी का नहीं है। अब मुझे हर एक बेअदब (शिष्टाचारहीन) आदमी से घृणा हो गई है।" बुराई या बुरे लोगों से किनाराकशी करने की इस आदत ने सत्यप्रकाश के जीवन को ऊंचा उठाने में बहुत सहायता दी।

समाज-सुधार की ओर भी आपका ध्यान उन दिनों में विशेष रूप से आकर्षित हो चुका था। स्त्रियों या लड़कियों के प्रति समाज में जो उपेक्षा का भाव छाया हुआ था, उसके विरुद्ध आप के हृदय में विद्रोह की चिनगारी उन्हीं दिनों में सुलग चुकी थी। १८८० के दिसम्बर मास में आप ने स्त्री-शिक्षा पर एक पुस्तक लिखने का इरादा किया था और इस विषय की बहुत सी पुस्तकें भी पढ़ी थीं। आप के मित्र विशनदास के लड़की पैदा होने पर वे कुछ दुःखी हुए, तो आप ने उनको लिखा कि लड़कियाँ पैदा होनी

बन्द हो जाँय, तो दुनिया ही ख़त्म हो जाएगी। इस पर उनके विचार बदल गए और स्त्री-शिक्षा आदि के सम्बन्ध में वे पूरी तरह आप के समर्थक बन गए परदे के सम्बन्ध में इसी समय आप के यह विचार दृढ़ हो गए थे कि "परदा इसका नाम नहीं कि स्त्रियों को चिड़ियों की तरह पिंजरों में बन्द रखा जाय। बल्कि शर्म व हया से रहने का नाम ही परदा है। हमारी औरतें घर वालों से तो परदा करती हैं और ग़ैरों से न शर्म न हया।" स्त्रियों के गन्दे गीत गाना आप को बिलकुल भी पसन्द नहीं था। आप एक बार अपने एक मित्र लाला कृपाराम के साथ भैरोंप्रसाद के यहाँ गए। वहाँ से लौट कर ५ मार्च १८८३ की डायरी में आपने लिखा कि "स्त्रियाँ ऐसा फ़हश गाती हैं कि तोबा! अफ़सोस, इनको जहालत के पंजे से छुड़ाने वाला कोई नहीं। इसमें उनका क्या कसूर है? कसूर सारा उनके पतियों और रिश्तेदारों का है। मैं हमेशा से स्त्रियों का तरफ़दार रहा हूँ मेरे दिल में यह अच्छी तरह बैठ गया है कि स्त्रियें पुरुषों की अपेक्षा नेक और रहमदिल होती हैं। इन बेचारियों को नौरतन की-सी कहानियों ने बदनाम कर रखा है खुद वे पढ़ी-लिखी नहीं हैं। "आदमियों ने जैसी चाही, वैसी कहानियाँ घड़ कर सुना दी।" वे ऐसी मूर्खा हैं कि गन्दे और अच्छे गानों में कुछ भी फर्क नहीं रखतीं हा, आर्यावर्त! इस गिरोह (स्त्री-जाति) के इक़बाल का सितारा कब चमकेगा?"

छोटे भाई हंसराज जी का विवाह १५ अप्रैल, १८८३ को बंगाल में हुआ। उसका वर्णन आपने अपनी डायरी में ख़ूब विस्तार के

साथ किया है। ढ़फाव की रसम बन्द होने पर आपने प्रसन्नता प्रगट की है और अपने खानदान को उसके लिये नमूना बताया है। वहाँ स्त्रियों द्वारा फ़हश गाने न गाये जाने पर भी आपने प्रसन्नता प्रगट की है। इसी सिलसिले में आप लिखते हैं कि "मैंने ऐसे भलेमानस कुड़म (समधी) कभी नहीं देखे। कैसा अच्छा खाना ठीक समय पर देते हैं। सच पूछो तो रिश्तेदारी का मज़ा गाँव में ही है। शहर के लोग जाहीरनुमा होते हैं। दुपहर को हम समाज किया करते थे। स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज वेद सुनाया करते थे। और मैं व्याख्यान दिया करता था। दूल्हा और दुल्हन समान गुण वाले हैं।" समाज-सुधार की यह भावना भी उत्तरोत्तर दृढ़ होती चली गई और आर्यसमाज के सार्वजनिक-जीवन के दिनों में इस भावना ने अनोखा चमत्कार कर दिखाया।

श्रीमती काहन देवी
(लाला देवराज जी की माता)

५—महान् सौभाग्य

ऋषि दयानन्द ने शतपथ का उल्लेख करते हुये "सत्यार्थ-प्रकाश" के दूसरे समुल्लास में उस मनुष्य को धन्य और अहोभाग्य बताया है, जिसे माता, पिता और आचार्य तीनों अच्छे गुरु मिल जाँय। माता के नाते इस दृष्टि से लाला देवराज जी महान् सौभाग्यशाली व्यक्ति थे। आजीवन आप माता के उपकारों को नहीं भूले। जब कभी कोई आप के मुँह पर आपकी बड़ाई करता, तो आप उसे माँ की बड़ाई करने को कहते और जब कोई आप की जीवनी लिखने की बात कहता तो, आप उनकी जीवनी लिखने का आग्रह करते। महाविद्यालय में १९३२ में आपकी ७२वीं वर्ष गाँठ मनाई जाने का आयोजन किया गया। उसमें सम्मिलित होने के लिए आप से आग्रह किया। आपने उस आग्रह के जवाब में पत्र लिखते हुए लिखा कि "मेरी माँ ने मुझे जिस काम में लगाया था, मैं यथाशक्ति उसमे लगा रहा और जो थोड़ी-सी सेवा मैं कर सकता हूँ, वह सब माँ के ही आशीर्वाद का फल है। इसलिए इस में मेरा कुछ भी नहीं। सब कुछ भगवान् या अम्बा का है। इसलिए उनका ही यश गाओ, मेरा नहीं" इसी प्रकार दिसम्बर १९३२ में वृद्धावस्था में शरीर के अत्यन्त दुर्बल हो जाने के कारण आपने छुट्टी लेनी चाही। उस समय प्रकाशित किए गए वक्तव्य में आपने लिखा था कि "विद्यालय की सेवा

करते हुए लगातार पचास साल बीत गए हैं........स्त्रीशिक्षा और स्त्रियों की जो उन्नति हो रही है और विद्यालय को जो सफलता प्राप्त हुई, यह मेरी आशाओं से कहीं बढ़ कर है। मैं इसे भगवान् की कृपा और अपनी माँ के आशीर्वाद का फल समझता हूँ। इतने वर्षों के अपने काम को मैं जिस प्रेम से निभाता रहा, वह भगवान् की दया और माँ के आशीर्वाद के प्रताप का ही फल है। नहीं तो मेरी सत्ता और योग्यता ही क्या थी?... ..बच्चों की भाँति मैं अपनी माँ को याद करके प्रेम के आँसू बहा कर उनके चरणों में अपना सिर नवाता हूँ।"

दृढ़ आर्यसमाजी होते हुए भी अपनी माँ की याद में आप सब कुछ भूल जाते थे। पुराने संस्कारों के अनुसार आपको माँ का स्मरण किस रूप में होता था, इसका पता १६१६ की डायरी से लगता है। उसमें ४ जनवरी के पन्ने पर लिखा है कि "आज प्रातः काल मैंने स्वप्न में देखा कि पश्चिम से बादल आ रहे हैं और वे फूलों के बादल थे। सुगन्धि आ रही थी बादलों के बीच में एक सिंहासन था, जिस पर बड़ी शोभा और तेज के साथ प्रसन्नचित्त से माता जी विराजमान थीं। मीठे स्वर से भजन गाती हुई और दोनों हाथों से पुष्प-वर्षा करती हुई मेरी ओर देख रही थीं। उनका प्यारा मुँह देख कर मेरे सप्रेम आँसू निकल आए। आँखें खुल गईं। हा, माता! प्रातः स्मरणीय माता!! ऐसी देवी तो स्वर्ग में देवताओं से पूजी जाती है। उनका धैर्य, साहस, परिश्रम, धर्म-प्रेम,

दानशीलता, उदारता, परोपकार-वृत्ति, विचारशीलता आदि सद्-गुण उनमें वास्तव में ही अनुपम थे। पिता जी प्रायः कहा करते थे कि जब से तुम्हारी माँ इस घर में आई हैं, घर की शोभा और ऐश्वर्य में दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक्की हुई है। धन्य माता!" इसी प्रकार ७ मार्च की डायरी में लिखा है कि "माता जी बहुत याद आती हैं। प्रातः काल मैंने फिर स्वप्न देखा कि फूलों की एक घटा पश्चिम की ओर से उठी है। जब वह निकट आई तो मैंने देखा कि माता जी मेघ-मण्डल में एक सिंहासन पर विराजमान् भजन गाने में निमग्न हैं। अपने दोनों हाथों से नीचे खड़ी कन्याओं पर फूल बरसा रही हैं। मुझे आशीर्वाद दिया-कि देवराज, तुम्हारे काम में विघ्न न पड़े। जब मेरी आँखें खुलीं, तो मैंने देखा कि आँसुओं से मेरी आँखें तर थीं। माता जी साक्षात् देवी थीं।"

माता-जीजाबाई ने शिवा जी को छत्रपति बनाने में जो जादू किया था और नैपोलियन को अजेय सेनापति एवं सम्राट् बनाने में उसकी माँ ने जो चमत्कार किया था, वह माता काहनदेवी ने अपने पुत्र को 'लाखों में एक' बनाने में कर दिखाया। न केवल बचपन में वह बालक के हृदय पर आस्तिकता के संस्कार डाल कर उसमें धार्मिक वृत्ति पैदा करती रहीं, बल्कि सांसारिक जीवन के घोर संकट और सार्वजनिक जीवन की गहरी निराशा के अन्धकार में भी वह उसकी अंगुली पकड़ कर आगे का रास्ता दिखाती रहीं। यदि माता का सहारा न होता, तो आज इन पंक्तियों में लाला देवराज जी की स्मृति को सुरक्षित बनाने का अवसर

ही उपस्थित नहीं होता। इसी से माता के पुण्य-स्मरण के बिना यह स्मृति पूर्ण नहीं हो सकती।

माता जी की छोटी-सी जीवनी लाला देवराज जी ने १९३१ में स्वयं ही लिखी थी। उस से पता चलता है कि माता जी का मायके का नाम 'मथरो' था। विवाह उनका छोटी अवस्था में होगया था। उन्हें भजन गाने का बचपन से ही शौक़ था बड़ी मस्त होकर गाया करती थीं। कहानियों का भी वैसा ही शौक़ था। बड़ी सहनशील, सरल हृदय, सादगी पसंद और किफ़ायतशारी से काम चलाने वाली थीं। गहनों और कपड़ों का उन्हें बिलकुल भी शौक़ न था। ४० सदस्यों के परिवार का सारा प्रबन्ध स्वयं किया करती थीं। उनके जीवित रहते घर में सास-बहू का झगड़ा कभी भी पैदा न हुआ। फिज़ूलख़र्ची और काम-काज की लापरवाही उन्हें बिलकुल भी पसन्द नहीं थी, लेकिन ग़रीब, दीन, दुःखी एवम् निस्सहाय के लिए हृदय तुरन्त पसीज जाता था। दूसरे की बुराई का विचार मन में लाना उनके लिए सम्भव ही नहीं था। यदि कोई किसी की शिकायत या बुराई करता तो उस पर कान नहीं देती थीं। एक बार एक स्त्री ने आकर कहा कि अमुक स्त्री गालियाँ देती थी, तो उसको फ़ौरन ही कहा कि उसने तो नहीं तुमने गालियाँ दी हैं। तुमने ही आकर गालियाँ सुनाई हैं। आगे को ऐसा मत करना और फिर कभी गालियाँ न देना

चौके-चूल्हे का नियम वे बहुत कठोरता से पालती थीं। बिना स्नान किए चौके में पैर नहीं रखती थीं। पूजा-पाठ के नियम में भी

कभी नागा नहीं होता था। सीने पिरोने, चरखा कातने और नाले बुनने के काम का भी उन्हें अच्छा शौक़ था। यह धार्मिक और सात्विक वृत्ति उनके जीवन में निरन्तर बढ़ती चली गई। रोज़ रात को सोने से पहिले और सबेरे उठने के बाद पति के चरणों को छूकर प्रणाम किया करती थीं। आयु के अन्तिम दिनों में वे बहुत सख्त बीमार पड़ गए, तब उनके पास जाने का अवसर न मिलने पर दूर से प्रणाम कर इस नियम को निबाहती रहीं। सास और श्वसुर के पैर भी इसी प्रकार छुआ करती थीं। सास की मृत्यु के बाद जब घर का सारा भार सिर पर आ पड़ा, तब उसको बड़ी योग्यता के साथ निबाहा। मातमपुरसी के लिए छोटे-बड़े सभी के घरों में नियमपूर्वक जाती थीं यहाँ तक कि बिरादरी के बाहर के न केवल हिन्दू परिवारों में, किन्तु मुसलमानों और मेहतरों के घरों में भी जाती थीं। घरों की बूढ़ी औरतें उन दिनों में घरेलू दवाईयों का अच्छा संग्रह करके रखा करती थीं। इन्हें भी पुराना गुड़, नस्वार और आँखों के लिए जिस्त आदि रखने का शौक़ था पेट तथा गला मलने और बच्चों की कब्ज़ दूर करने के लिए सारे मुहल्ले में मशहूर थीं। अड़ोस-पड़ोस के लोग प्रायः उनसे घरेलू दवाइयाँ ले जाया करते थे। अपने कपड़े वे स्वयं धोया करती थीं और घरका सारा काम भी यथासम्भव स्वयं करती थीं। आटे की बोरी अकेली छान लेती थीं। नौकरों पर मातृवत् कृपा और स्नेह रखती थीं। छुट्टी जाने पर घर के लिए उन्हें कपड़ा व सामान दिया करती थीं। विवाह आदि पर भी उनकी सहायता किया करती थीं

इसीलिए नौकर घर को अपना घर समझ कर दूसरी जगह जाने का कभी विचार भी नहीं करते थे। कइयों को संकट के समय में उन्होंने सौ-सौ पचास-पचास रुपए तक की सहायता दी। जगतू पाँधे को दुकान लगवा कर मालदार बना दिया। इस परोपकार वृत्ति से उन्होंने कितनों का ही संकट से उद्धार किया। लागियों के हक का दबाया जाना उन्हें असह्य हो जाता था। हरेक को पूरी तरह सन्तुष्ट करने का यत्न किया करती थीं। त्योहारों को भी बड़े चाव से मनाया करती थीं।

अपने नियमों और व्रतों की वे बहुत पाबन्द थीं। पहिले तो वे बहुत-से व्रत करती थीं, लेकिन बाद में वे कम होते चले गए. शिक्षा और आर्यसमाज दोनों के प्रभाव का परिणाम होना ज़रूरी था। नया फल पाँच आदमिओं को खिला कर ही वे स्वयं खाया करती थीं। इस नियम को उन्होंने जीवन भर निबाहा। कभी कभी पीपानी का व्रत ले लेती थीं, जिसका मतलब यह था कि जब तक कोई दूसरा न कहे, तब तक पानी नहीं पीती थीं। दातुन का यह व्रत था कि यदि सूर्योदय से पहिले दातुन नहीं हुई तो दिनभर उपवास रखतीं। 'पञ्चसरैय्या' भी उनका एक व्रत था, जिसका मतलब यह था कि जितने भी प्रकार के कन्द-मूल, फल-फूल मिल सकें, वे सब पाँच-पाँच सेर दान दिए जाँए। गाय को नियम से आटे का एक पेड़ा देती थीं। बिना उसके भोजन नहीं करती थीं। भोजन में से गोग्रास रखने का नियम उन्होंने आजीवन पालन किया।

हिन्दू-त्यौहारों के समान ही मुहर्रम भी घर में मनाया जाता

था। बच्चों के नले में मौली डाल कर ताजियों पर पैसे चढ़ाने के लिए उन्हें भेजा जाता था। घर की ओर से शरबत पिलाने और बाँटने का विशेष प्रबन्ध किया जाता था। रमजान के दिनों में मुसलमान स्त्रियों और नौकरों को खाना खिलाने का वे बहुत ध्यान रखती थीं। उन्हें मीठी रोटियाँ और चावल दिया करती थीं। उन्हें दूध और छाछ देने में भी वे आनन्द अनुभव किया करती थीं। कहना न होगा कि पारिवारिक जीवन के इन सुखद दृश्यों का आर्यसमाज ने अन्त कर दिया।

धैर्य भी उन में कमाल का था। अपनी या दूसरों की भी बीमारी में वे कभी भी हिम्मत नहीं हारती थीं। प्रभु पर उन्हें असाधारण विश्वास था। "प्रीतम प्यारे घट घट वासी" उनका बहुत प्यारा गाना था। सख्त बीमारी में भी इसी को गाया करती थीं। सन् १६१३ में पतिदेव का देहान्त होने पर सारे घर में मातम छा गया। घर के लोग सब बुरी तरह रोने लगे। उस समय माता ज़ी ने क्या किया? देवराज जी लिखते हैं कि "माता जा तुरन्त वहाँ पहुँचीं। पहिले शीस नवाया। फिर हम सबको धैर्य बँधाया शव को चौबारे के नीचे ले जाने की आज्ञा दी। आँगन में एक तख्तपोश पर मृतक देह को रख कर पास ही एक चौकी पर बैठ कर चरणों में शीस धर कर कहा कि मेरी और आपकी अच्छी निभ गई। उसके बाद जाप में निमग्न हो गई।"

स्त्री-शिक्षा में जब रुचि उत्पन्न हुई, तब पूना महिला-विश्व-विद्यालय के संस्थापक श्री कर्वे में उनकी विशेष श्रद्धा पैदा हो

गई। लाला देवराज जी माता को समाचार-पत्रों में से स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी समाचार विशेष रूप में सुनाया करते थे। माता जी उनको सुनकर गद्‌गद्‌ हो जाया करती थीं। उन्हीं दिनों में जब समाज-सुधार की प्रवृत्ति पैदा हुई, तो बिरादरी में से कुरीतियों के उन्मूलन करने में उन्होंने विशेष भाग लिया। १८६६ (१४ अगस्त) में भरी जवानी में बड़े पुत्र बालकराम की मृत्यु पर घर में स्यापा नहीं बिठाया और पति के देहान्त पर भी ऐसी कोई रस्म अदा नहीं की। समाज-सुधार का कार्य अपने घर और अपने जीवन से ही शुरू करने की उनकी आदत थी।

१८६८ की ६ अगस्त की डायरी में लाला देवराज जी ने माता जी के धर्म-भाव की सराहना करते हुए लिखा है कि "माता जी कन्याओं के जीवन-सुधार का बहुत बड़ा काम कर रही हैं। रात को दो-दो तीन-तीन घण्टा आश्रम में काम करती हैं। कन्याओं से बड़ा स्नेह करती हैं। माता जी के हृदय में धर्म-भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। लालदेवी से एक मज़मून लिखवा कर मुझे दिया है, जिसका आशय यह है कि "झूठी बातों से मेरा निश्चय हट गया है। गूंगे नवमी, श्राद्ध, मूर्ति-पूजा से दिल हट गया है। अब केवल ईश्वर उपासना करती हूँ। ईश्वर मुझे शान्ति दे।" लालदेवी छोटे भाई हंसराज जी की पत्नी का नाम है।

सचमुच ऐसी माता को पाकर देवराज जी धन्य हो गए। अगले पृष्ठों में पाठक देखेंगे कि माता के इस जीवन का आपके जीवन पर कैसा असर पड़ा।

६—सद्गृहस्थ

विद्यार्थी-जीवन में सत्य-प्रकाश के अन्तःकरण में जो उच्च विचार पैदा हो चुके थे, गृहस्थ-जीवन को उत्तम बनाने में उन से बहुत सहायता मिली। १०—११ वर्ष की अज्ञान-अवस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था, लेकिन अपने परिश्रम से उसे आदर्श गृहस्थ बना कर 'सद्गृहस्थ' शब्द को अपने लिए चरितार्थ कर दिखाया। जब आप की शादी हुई, तब आप खालिकबारी पढ़ते थे। पूर्ण सनातन-विधि से, रईसी ठाठ-बाट से विवाह हुआ था। वेश्या-नृत्य उन दिनों में विवाह का आवश्यक अंग था। शराब की बोतलें भी उड़तीं थीं। सम्बन्धियों में झगड़ा होना भी ज़रूरी समझा जाता था। ये सब कर्मकाण्ड आप के विवाह में भी यथाविधि सम्पन्न हुआ था। बरात के साथ दो वेश्यायें गईं थीं। १५—१६ वर्ष की आयु में मुकलावा हुआ और कंगना खोलने आदि की रस्में भी अदा की गईं थीं। मुकलावे के एक साल बाद तिरोजा हुआ, जिस समय कानों में सोने की बालियाँ पहनाई गईं थीं। ससुराल पहुँचते तक गरदन अकड़ गई। वहाँ सुनार को बुला कर बालियाँ उतारी गईं, तो जान में जान पड़ी।

यह नहीं माना जा सकता कि मुकलावे के समय आप गृहस्थ की ज़िम्मेंवारी को महसूस करते थे, लेकिन आपके हाथ के काग़ज़ों से यह मालूम होता है कि आपका अपनी पत्नी के प्रति असाधारण प्रेम था और वह प्रेम दुनियादारी के प्रेम से कुछ अधिक महत्व रखता था। पाठक पीछे कुछ सवाल-जवाब पढ़ आए हैं। उसमें दो सवाल-जवाब निम्न लिखित हैं:—

प्रश्न—तू अपनी लेड़ी को इतना प्यार क्यों करता है।

उत्तर ईश्वर ने शादी के मौके पर फ़रमाया था कि देखना मैं तुझे एक ग़रीब, अबला व निर्धन स्त्री देता हूँ। इसे ख़ुश रखना

प्रश्न—तू अपनी औरत के साथ क्या रिश्ता समझता है?

जवाब—जान की मालिक, घर का सहारा, ख़ुशी को बढ़ाने वाली और आराम देने वाली।

ये विचार यद्यपि विवाह के दस वर्ष बाद १८८१ के हैं, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि अपनी पत्नी के प्रति यह भावना आपके हृदय में उससे भी कुछ वर्ष पहिले समा चुकी थी। विद्यार्थी जीवन में आप उसको 'लेडी' या 'माई लेडी' कहकर याद किया करते थे। इसी लिए ऊपर के पहिले सवाल में 'लेडी' शब्द ही काम में लाया गया है। अपने साथियों के साथ बातचीत करते हुए भी आप को इस शब्द के प्रयोग करने में कुछ लज्जा या संकोच अनुभव नहीं होता था। होशियारपुर में पढ़ाई के दिनों में जब कभी कोई आदमी घर से जाता, तो उससे बड़ी उत्सुकता के साथ अपनी स्त्री

का कुशल-मङ्गल पूछा करते थे। १८८० में आप पिता जी के साथ अमृतसर दरबार साहब का मेला देखने के लिए गए थे। वहाँ से बहुत सी सौगातें अपनी 'लेडी' के लिए लाए थे। वे सौगातें जालन्धर ला कर जब आपने उनको भेंट कीं, तब कृतार्थ हो गए। इस घटना का उल्लेख आपने अपनी डायरी में बड़े गौरव के साथ किया है।

जीवन में ज्यों ज्यों संजीदगी आती गई, पत्नीके प्रति कर्तव्य-पालन की बुद्धि जागृत होती गई स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार कर उनको जागृत करने की भावना हृदय में पैदा होते ही इस कार्य का श्री-गणेश अपने घर—माता और पत्नी—से किया। उस छोटी अवस्था में और उस ज़माने में पत्नी का विवाह से पहिले शिक्षित होना सम्भव ही नहीं था। बीस तक गिनती जानने वाली स्त्री उन दिनों में 'विदुषी' समझी जाती थी। पहिले तो पत्नी की शिक्षा का प्रारम्भ उस पाँधे से कराया गया, जो घर में पुराण आदि की कथा करने आया करता था। उससे उन्होंने कुछ हिन्दी और विष्णु सहस्त्रनाम की शिक्षा ग्रहण की। कन्या पाठशाला खुलने पर माई लाड़ी से पढ़ना शुरु किया। कन्या महाविद्यालय की स्थापना होने पर पण्डित श्रीपतिजी ने महिलाओं के लिए एक विशेष कक्षा शुरु की थी, उस कक्षा की पहली शिष्याओं में आप भी शामिल हुईं। इस शिक्षा के अलावा देवराज जी ने स्वयं भी बहुत मेहनत की। परिणाम यह हुआ कि पत्नी ने पति के सब कामों में पूरा हाथ बटाया। आप का मायके का नाम 'सुन्दरी' था और

ससुराल का टहलदेवी। दोनों ही नामों को आपने सार्थक कर दिखाया। देवराज जी ने १८८३ में 'लेडी' या 'माई लेडी' शब्द का प्रयोग बन्द करके सुन्दरी नाम का प्रयोग करना शुरु किया और यही नाम आपको अधिक पसन्द था।

पत्नी का पहिला पत्र आपको ७ अप्रैल १८८३ को मिला, जिसकी नक़ल आपकी डायरी में दर्ज है। हालाँ कि डायरी उर्दू में है, लेकिन पत्र की नकल हिन्दी में किलक की कलम से मोटे अक्षरों में की गई है। उससे मालूम होता है कि आपको भी हिन्दी लिखने का अभी पूरा और अच्छा अभ्यास नहीं हुआ था। पत्र के साथ की पंक्तियाँ ये हैं—आज बड़ा मुबारक दिन चढ़ा है कि प्यारी सुन्दरी का ख़त आया। प्यारी सुन्दरी सारी .खुशबुओं का मरकज़ तू ही है ?"

छोटे भाई हंसराज की शादी पर उसके प्रति शुभ-कामना प्रगट करते हुए आपने अपनी डायरी में लिखा था कि "दुलहिन हंसराज को वैसा ही प्यार करे, जैसे सुन्दरी सत्यप्रकाश को। प्यारी सुन्दरी, धन्य भाग हैं तेरे कि तुझे मैं मिसाल के तौर पर बयान करता हूँ। कैसा ही ग़म हो, लेकिन तेरे नाम से सब ग़म फ़रामोश हो जाते हैं।"

यह स्नेह-भाव शीघ्र ही सच्चे सखा-भाव के रूप में परिणत हो गया और पति के समस्त कार्यों में टहलदेवी जी ने हाथ बटाना शुरु कर दिया। १८८७ में देवराज जी के सर पर आर्यसमाज की धुन सवार थी। श्रीमती टहलदेवी उन दिनों में स्त्री-समाज का संचालन

किया करती थीं। आश्रम के काम में भी देवराज जी को उनसे बहुत सहायता मिलने लग गई थी। कमज़ोर होते हुए भी वे पढ़ने पढ़ाने के शौक़ को पूरा करने में लगी रहती थीं। १८६८ की २८ जुलाई की डायरी में देवराज जी ने लिखा है "आत्मा प्रसन्न है। मैं उस ईश्वर के लिए काम करता हूँ; जिसे दुनिया की परवाह नहीं है। मुझे इस बात की तनिक भी परवाह नहीं कि दुनिया मेरी स्तुति करती है या निन्दा ? मुझे मेरे आत्मा पर भरोसा है। यही इच्छा है कि मैं इन कन्याओं को देवयानी बनाऊँ ईश्वर मेरी इच्छा को पूरा करें। सुन्दरी खूब काम करती है। आश्रम में इनका बहुत समय लगता है। मैं ईश्वर का धन्यवाद देता हूं, जिसने मुझे ऐसी धर्मपत्नी दी।"

१६१६ की डायरी के ६ फ़रवरी के पन्ने में आपने १८६५ के उन काग़ज़ों में से एक कागज़ उद्धृत किया है, जो किसी अलमारी में फटी-सटी हालत में पड़े हुए आपके हाथ लग गए थे। उससे पता चलता है कि आपने श्रीमती जी को विद्यालय के अपने सर्व-श्रेष्ठ काम में पूरी हिस्सेदार बनाया हुआ था। उस कागज़ की नक़ल निम्न प्रकार है:

श्रीमती सुन्दरी के काम:—

(१) जब कोई स्त्री मिले, तब उसे कन्याओं को पाठशाला भेजने के लिए कहो।

(२) लोगों के घर जाकर कन्याओं को पढ़ाने के लिये कहो।

(३ कन्याओं से प्रेम करोगी, तब वह तुम से प्यार करेंगी। उनकी माता तुम पर विश्वास करेंगी और तुम्हारा कहना मानेंगी। जहाँ तक हो सके, शाला में नित्य जाओ। वहाँ जाकर कन्याओं से स्नान का प्रश्न पूछा करो।

(४) जिन कन्याओं ने मुँह न धोया हो, उनका मुँह धो दो या धोने को कहो।

(५) जिनके वस्त्र मलिन हों, उन्हें उजले वस्त्र पहिनने की शिक्षा दो।

(६) पहली श्रेणी की कन्याओं को पढ़ाओ और उन्हें समाज के नियम कण्ठ कराओ।

(७) पाठशाला के साफ़ रहने पर ध्यान दो।

(८) कन्याओं को भजन लिखाओ और खाना बनाने में सहायता दो।

(९) कन्याओं के वस्त्र फटे हुये न हों, परदेदार हों, इस पर विशेष ध्यान दो। कन्याओं में मुँह पर सुरमे के दाग़ निकालने की जो कुरीति चली हुई है, उसका निषेध किया करो।

१४ फ़रवरी १८९५ की डायरी में भी ये सब बातें ऐसी ही दर्ज हैं।

अपने सुपुर्द किये गये इन सब कामों को सुन्दरी देवी ने यत्न-पूर्वक पूरा किया। महाविद्यालय के काम में उनका अनुराग बराबर बना रहा। विधवा-भवन स्थापित होने पर वर्षों तक आप उसके अधिष्ठाता का काम पूरी योग्यता के साथ निबाहती रहीं।

आप के इस सहयोग की देवराज जी मुक्त कण्ठ से सराहना किया करते थे। उस सहयोग के स्मारक-स्वरूप विद्यालय की वाटिका में आप ने एक "टहल कुंज" बनवाया था।

महाविद्यालय के रूप में पति-पत्नी ने मिल कर माता जी के आशीर्वाद से इतने बड़े परिवार की स्थापना कर डाली कि उसकी तुलना में उसका घरेलू परिवार बहुत छोटा रह गया। लेकिन, तो भी आपने उसकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की। ३० मार्च १८८३ को पहिला पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम "बटालिया" रखा गया। उन दिनों में आप होशियारपुर में पढ़ते थे। बटालिया नाम आप को पसंद नही था। आप उस का नाम "शान्तिप्रकाश" रखना चाहते थे। २३ दिसम्बर १८८४ को पुत्री गार्गी का जन्म हुआ। तीसरा पुत्र शान्तिराम १८८६ की ३ फरवरी को पैदा हुआ, लेकिन वह जीवित नहीं रहा। इसी वर्ष २० मई को उस का देहान्त हो गया। उस की मृत्यु का आप को और टहल देवी जी को बहुत सदमा पहुँचा। चौथे पुत्र बोधराज का जन्म १८६१ में हुआ। पाँचवें ऋषिराम का जन्म २४ सितम्बर १८६३ को हुआ। उस के जन्म दिन पर आप ने डायरी में लिखा कि "मेरे घर बालक पैदा हुआ। अगर कन्या पैदा होती, तो मैं बहुत खुश होता।"

सब बच्चों की शिक्षा का आप ने यथोचित प्रबन्ध किया और उन को योग्य नागरिक बनाने का पूरा यत्न किया। पुत्री गार्गी को खूब दिल लगा कर पढ़ाया था। महाविद्यालय की आठवीं

श्रेणी उस ने पास कर ली थी । घर में लघुकौमुदी और कुछ अन्य ग्रन्थों की भी उस को शिक्षा दी गई थी। अंग्रेज़ी में मिडिल की योग्यता प्राप्त कर ली थी । विद्यालय में दो वर्ष तक प्रति दिन तीन घण्टे पढ़ाने का काम भी उसने किया था । "पांचाल पण्डिता" में लेख आदि भी लिखा करती थी और उस के सम्पादन-कार्य में हाथ बठाया करती थी । गृह-कार्य में भी बड़ी निपुण थी । कन्या बड़ी होनहार थी । माता पिता उस से बहुत बड़ी-बड़ी आशायें लगाये हुये थे । लेकिन, किस को पता था कि १७ वर्ष ४ मास माँ की गोद में बिता देने पर भी वह एकाएक इस संसार से चल बसेगी ? २० अप्रैल १९०२ की रात को परिवारिक उपासना के बाद १० बजे से १२ बजे तक वह अपनी बीमार भावज के पास बैठी रही । ठीक १२ बजे एकाएक मूर्छित हो कर गिर पड़ी । सब सम्भव उपाय किये गये । डाक्टर हार गये । पर, मूर्छा नहीं खुली । दूसरे दिन दुपहर १२ बजे सब घर वालों को रुला कर वह चलती बनी ।

इसी प्रकार चिरंजीव बोधराज की मृत्यु भी ३९ वर्ष की आयु में १३ जनवरी १९३० को हो गई । युवावस्था में उस का दिमाग़ कुछ फिर गया था । जब पागलपन का दौरा उठता था, तब उस को संभालना कठिन हो जाता था । उस के औषधोपचार के लिये भी बहुत से उपाय किये गये । दो-ढ़ाई वर्ष के लिये एक बार लाहौर के पागलखाने में भी रखा गया । बीमारी शान्त हो कर

फिर उमड़ पड़ती थी । इस बीमारी के कारण ही विवाह नहीं किया गया था ।

पिता, माता और पुत्र बोधराज के आप ने उपयुक्त स्मारक बनवाये। टाउन हाल के पास पिता जी की यादगार में "सालिग-राम पब्लिक लाइब्रेरी" बनवाई गई। माता जी के नाम से महाविद्यालय की वाटिका में "काहन-चक्र' के अलावा 'अतिथि-गृह' और बोधराज के नाम से आश्रम में एक कमरा बनवाया गया है ।

जालन्धर में

देश, जाति और समाज की सेवा की भावना का उदय लाला देवराज जी के हृदय में छात्रावस्था में ही हो चुका था। स्वदेशी और देशभक्ति पर उन दिनों में व्याख्यान देने भी शुरु कर दिए थे। होशियारपुर के स्कूल की पढ़ाई के बाद जालन्धर आने पर सर्वतोभावेन समाज-सेवा के कार्य में लग गए। उन दिनों में सरकारी नौकरी, विशेषकर तहसीलदारी अथवा मुन्सिफ़ी को लोग बहुत पसन्द करते थे। स्वतन्त्र धन्धों में वकीली या बैरिस्टरी की ओर लोगों की विशेष प्रवृत्ति थी। आपके पिता जी ने पहिले जेल में दारोगागीरी फिर नूरपुर और गढ़शङ्कर तहसीलों में कुछ दिन तक तहसीलदारी भी की थी। आप के बहनोई लाला मुन्शी राम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) के पिता जी भी तहसीलदारी में मालामाल हुए थे। दो भाई बैरिस्टरी के लिए विलायत गए थे। लाला मुन्शीराम भी नायब-तहसीलदारी को नमस्कार करने के बाद मुख्तारी करते हुए वकालत पास करने के यत्न में लगे हुए थे। दूसरे मित्रों एवं सम्बन्धियों की भी ऐसी ही प्रवृत्तियाँ थीं। इसी से आपके लिए भी मुन्सिफ़ी की तजवीज़ की गई। लेकिन, लोगों को क्या पता था कि जिस विद्यार्थी के हृदय में स्वदेशी, देशभक्ति और समाज-सेवा की भावना जाग चुकी है, वह मुन्सिफ़ी नहीं

कर सकता। उसके लिए वैसी कोशिशें करना बेकार हैं। १८ फ़रवरी १८८४ की डायरी में लिखा हुआ है कि "लाला मुन्शीराम व अज़ीज़ भक्तराम की यह इच्छा है कि मैं मुन्सिफ़ी के लिए कोशिश करूँ। पहिले तो इसके लिए पिता जी ही आज्ञा नहीं देंगे। दूसरे नौकरी से मेरी तबीयत कोसों दूर भागती है, क्योंकि नौकरी से आज़ादी में फ़र्क आता है। दौलत भी तो नौकरी में नहीं है। वह व्यापार से ही जमा होती है। रही इज़्ज़त। क़ौमी हमदर्दी और देश की भलाई के काम में लगने से जनता और सरकार दोनों में मेरी इज़्ज़त होगी। इसी मतलब से मैं दो महीने से रुपया जमा कर रहा हूँ। यदि ऐसे ही होता रहा तो आशा है मैं बहुत जल्दी ही बहुत-सा सरमाया जमा कर लूँगा। ईश्वर से प्रार्थना है कि 'देश-उन्नति-फ़ण्ड' पूरी तरह कायम हो जावे। इससे मैं मुल्क की बहुत बड़ी सेवा कर सकूँगा। मगर यह सब बातें दीवान साहब की कृपा से हो रही हैं।"

इस प्रकार देश-भक्ति की उच्च भावना से प्रेरित होकर आपने नौकरी की ओर झाँका भी नहीं और वकालत आदि के धन्धे की ओर भी आपकी प्रवृत्ति नहीं हुई। "देशोन्नति फ़ण्ड" की धुन आप में कुछ ऐसी समाई कि सब कुछ भूल कर आप उसी में लग गये। १८८४ के जनवरी मास से आपने लग कर उसके लिए काम किया। चलते-फिरते उठते-बैठते और खाते-पीते आपको उसी की धुन सवार रहती थी। हाथ में लिए काम को पूरा करने की आदत आप में बचपन में ही पड़ गई थी। सार्वजनिक जीवन

में उसका सब से पहिला परिचय इसी काम में मिला। पिता जी की स्वीकृति से आपका हौसला और भी बढ़ गया। कपूरथला के दीवान रामजस उन् दिनों में आपकी बिरादरी के सब से बड़े चौधरी थे। उनकी स्वीकृति भी आपको मिल गई। १६ जनवरी १८८४, तदनुसार ३ माघ १६४० को बिरादरी के करीब ३०० भाइयों की सभा में आपका व्याख्यान हुआ। सभा ने देशोन्नति फ़एड की आपकी योजना को स्वीकार कर लिया। उसी दिन की डायरी में आपने लिखा हुआ है कि "बस, मैंने आज अपना जन्म सफल जाना। यदि देशोन्नति-फ़एड चल गया, तो हम अपनी सारी आशाओं को अपने सामने पूरी होती देखेंगे। देशोन्नति-फ़एड की चर्चा सब जगह होने लगी है।"

जालन्धर की बिरादरी ने जो योजना स्वीकार की थी। उसको आपने छपवा लिया। उस छपी हुई योजना का हिन्दी उल्था नीचे दिया जाता है: -

"तजावीज़ मंजूरशुदा बिरादरी खतरियान व दीगर अकवाम अहले हनूद जलसा मुनक़दा ३ माघ सम्वत् १६४० विक्रमी मुनक़दा जनाब राय सालगराम साहब व जनाब मुंशी रामरतन साहब।

(१) हम बिरादरी खतरियान व दीगर अहले हनूद सकना जालन्धर लैक्चर लाला देवराज सत्यप्रकाश की ताईद करते हैं व मंजूर करते हैं कि मिन्जुमला और अखराज़ात लाग के लाग मुफ़स्सिल ज़ैल यानी :—

पैदायश बच्चा—(१) २५ टका, (२) १८ टका, (३) १२ टका।

नामकरण (१) १५ टका, (२) १२ टका, (३) ६ टका।

मुण्डन (१) १५ टका, (२) १२ टका, (३) ६ टका।

निस्वत या सगाई (१) १५ टका, (२) १२ टका, (३) ६ टका

यज्ञोपवीत (१) १५ टका, (२) १२ टका, (३) ६ टका।

साही छटी (१) २० टका, (२) १५ टका, (३) १० टका।

खोड़ी (१) १५ टका, (२) १२ टका, (३) ६ टका।

शान्त (१) १२ टका, (२) १० टका, (३) ८ टका

बिदायगी या खट— २) सैंकड़ा।

मुकलावा—लड़की वाला।) और लड़के वाला।)

देशोन्नति फ़ण्ड के लिए निकाल दिया करेगी।

(२) यह रुपया चौधरियान क़ौम इकट्ठा किया करेंगे, और सेक्रेटरी देशोन्नति फ़ण्ड के पास मारफ़त हज़ाम या किसी और लागी के भेजकर रसीद मँगा लिया करेंगे।

(३) इस रुपये का ख़र्च पंचायती की मंजूरी से होगा, जो पंचायत की बिरादरी मंजूर फ़रमावेगी।

(४) सेक्रेटरी देशोन्नति फ़ण्ड इसका हिसाब माहवारी पंचायत को सुनाया करेगा। या बज़रिये अखबार या ख़तूत या इश्तहार इत्तला देगा।

(५) यह रुपया सिर्फ धर्म के कामों में, जैसे गऊरक्षा, पाठशाला, कालिज, मरम्मत व तामीर मकान मिस्ल धर्मशाला व शिवालय वगैरः, या इजराय अख़बार अथवा अख़राजात बिरादरी में सर्फ होगा।

(६) इन तजावीज़ को शाया करके और मुकामों की पञ्चायतों के पास भेजा जाए, ताकि यह देशोन्नति .फण्ड हर जगह क़ायम हो जावे।'

देवराज जो इस .फण्ड को एक तहरीक अथवा आन्दोलन समझते थे, इसलिए ऊपर उसका पूरा विवरण देना ज़रूरी था। फिर, इससे यह भी पता चलता है कि उन दिनों म आपकी विचार-धारा, मानसिक प्रवृत्ति और सार्वजनिक हलचल का रुख़ किस ओर था। यह स्पष्ट है कि अभी आप पर पूरी तरह आर्यसमाज का रंग नहीं चढ़ा था, तो भी देशोन्नति की भावना आप में समा चुकी थी, समाचार-पत्र निकालने का विचार आपके दिमाग़ मे घर कर चुका था और शिक्षा के प्रसार की ओर आपका ध्यान आकर्षित हो चुका था।

आप ही इस .फण्ड के मन्त्री नियुक्त किए गये और जालन्धर की बिरादरी की स्वीकृति मिलते ही आपने दूसरे शहरों मे इसके लिए आन्दोलन करना शुरू कर दिया। अगले ही दिन २० जनवरी को आप करतारपुर गए। वहाँ बिरादरी इकट्ठी हुई। कपूरथला से दीवान रामसज जो भी आ गये थे। आपका व्याख्यान हुआ। दीवान साहब ने आपका समर्थन किया। सारी बिरादरी ने आपकी योजना का स्वीकार कर लिया। जब सभा शुरू हुई थी, तब करतारपुर वालों ने अपनी एक और योजना पेश की थी। उसे उन्होंने वापिस ले लिया। इस पर आपने अपनी डायरी में लिखा कि "आहा! मुझे किस .कदर खुशी नसीब हुई? खुशी क्यों न

हो ? जिस देवराज को कभी लोग सीटना कहा करते थे, वह आज एक उत्तम तहरीक का प्रवर्तक हुआ।" करतारपुर से लौटे और अगले ही दिन फगवाड़ा पहुँचे। वहाँ की बिरादरी का भी आपको समर्थन प्राप्त हुआ।

आप अपनी धुन में मस्त थे और देशोन्नति फ़ण्ड के सहारे देश व जाति की सेवा के हवाई क़िले खड़े करने में लगे थे कि "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" के अनुसार जालन्धर में आपका विरोध शुरू हुआ। जात-बिरादरी के प्रायः सब मामलों में जैसा हुआ करता है, वैसा ही इस बारे में हुआ। दीवान रामजस और आप की बिरादरी में इस प्रकार प्रतिष्ठा कायम होना लोगों को सहन नहीं हुआ। डायरी के १६ से २२ फ़रवरी १८८४ तक के पन्ने इस विरोध की चर्चा से भरे हुए हैं। उनका आशय यह है कि "दीवान रामजस साहब मुझ से सलाह-मशवरा लेते रहते हैं। इसलिए लाला रामरतन दीवान साहब के खिलाफ़ रहते हैं। अफ़सोस कि इनको बुरे शब्दों से याद करते हैं। देशोन्नति-फ़ण्ड के भी ये लोग खिलाफ़ हैं। कारण मालूम नहीं कि क्या है? शहर के दो आदमी नत्थू चौधरी और गणेशी भी खिलाफ़ हैं। ख़ुदा जाने कि मेरे मन्त्री हो जाने से उनकी चौधर में क्या फ़र्क आ गया? मैं मन्त्री होकर कोई स्वार्थ पूरा नहीं करना चाहता। ऐसे लोगों की मुझे परवा नहीं। मैं अपने विचारों पर सुदृढ़ हूँ। आज नहीं तो मैं दस वर्ष में कामयाब होऊँगा। यह धर्म का काम है। लोग इसे बुरा क्यों जानते हैं? भारतवर्ष की दयनीय

दशा पर भी इन लोगों को तरस नहीं आता। ईश्वर मुझे तेरी मदद दरकार है।" इसी सिलसिले में फिर लिखा है कि "लाला बालकराम ने आज देशोन्नति फ़ण्ड के लिए बहुत कोशिश की। मगर लाला रामरतन दो घर की बिल्ली बने रहे। यही कहते रहे कि सारा भाईचारा इकट्ठा होकर फैसला करेगा। ईश्वर जाने, ये लोग क्यों देश के दुश्मन हो रहे हैं? मैं सुदृढ़ होऊँगा। अन्त में मुझे सफलता मिलेगी। कुछ लोगों का यह ख़्याल है कि यह रुपया हमारे पास जमा होता है। इसलिये यह तय किया गया है कि रुपया लाला हरजसराय के पास रहे। ईश्वर करे कि इस रुपये से अपना लाभ करने का दुर्भाव मेरे दिल में कभी पैदा न हो। मेरा उद्देश्य देश की सेवा करना है। कोई चीज़ मुझे इस फ़ण्ड के लिए कोशिश करने से बाज़ नहीं रख सकती। कुछ लोगों की इच्छा है कि चन्दे की तादाद कम की जावे। यह हो सकता है। वह समय ख़ुद ही आ जायगा, जब लोग देश के लिए अपने आप ज्यादा चन्दा दिया करेंगे।"

पर, मालूम होता है कि जात-बिरादरी के संकुचित दायरे में काम करने का उत्साह अधिक दिन कायम नहीं रहा। उसका प्रधान कारण यही प्रतीत होता है कि आपने अपना उत्साह शक्ति, समय और ध्यान एकमात्र आर्यसमाज द्वारा देश-सेवा के काम में लगा दिया। यहाँ तक कि १८८६-८७ में जब आर्यसमाज का अपना मन्दिर बनने लगा, तब अपने पास पड़ा हुआ देशोन्नति फ़ण्ड का १५०) भी आपने उसी में लगा दिया।

देशोन्नति फण्ड क़ायम करने की यह सूझ या कल्पना आर्यसमाज और कन्या-महाविद्यालय के कार्य में खूब विकसित होती है।

बड़े भाई बालकराम और पिता जी घर का सारा काम-काज सम्भालते थे। इसलिए घर के काम का इतना भार या ज़िम्मेवारी आप पर नहीं थी। फिर भी घर के काम-काज में आप पूरी तरह हाथ बटाते रहते थे। छात्रावस्था में भी आप घर के काम-काज में काफी दिल-चस्पी रखते थे। मुकद्दमे आदि में अपने पिता जी की पूरी की सहायता किया करते थे। होशियारपुर में पढ़ते हुए यदि कोई काम वहाँ की अदालत का आ जाता था, तो आप ही उसे पूरा किया करते थे। १८६६ में बड़े भाई बालकराम की मृत्यु और पिता जी की वृद्धावस्था के कारण घर के काम-काज का अधिकतर भार आप पर आ पड़ा। उन्ही दिनों में महाविद्यालय के काम का भार भी आप पर कुछ कम न था। परायों और अपनों के विरोध के कारण महाविद्यालय का काम और भी अधिक भारी हो गया था। आप महाविद्यालय के प्रबन्ध एवं अध्यापन और कन्याओं की पढ़ाई के लिए पुस्तकें लिखने के साथ साथ साहूकारी और ज़मींदारी का काम भी बहुत योग्यता के साथ निभाते रहे। संयुक्त-परिवार होने से घरेलू काम-काज को निभाना इतना आसान नहीं था। साहूकारी और ज़मींदारी का सारा काम आप स्वयं ही किया करते थे। पिता जी के देहावसान के बाद जब घर की जायदाद के बटवारे का सवाल पैदा हुआ, तब आप को

बहुत दुःख हुआ। दुःख बटवारे का नहीं था, लेकिन कुछ ऐसे सम्बन्धियों के कारण था, जो बटवारे को सुखपूर्वक और सद्भावना को कायम रख कर नहीं होने देते थे। १६१६-१७ का अधिकांश समय इसी वजह से बहुत अशान्त बीता। मानसिक उद्विग्नता बहुत समय तक बनी रही। उन दिनों की डायरी के पन्नों में इस बारे में लिखी गई पंक्तियों से उन दिनों की आप की मानसिक स्थिति का पता चलता है। उनमें लिखा है कि "मकानों की तकसीम की बाबत उलझनें दूर नहीं हुईं। न जाने इनका क्या परिणाम होगा? मन बहुत अप्रसन्न है।" फिर लिखा है कि "......को बहुत समझाया, किन्तु वह नहीं समझता। हठ और लालच करता है। निवास के लिए हमने आपस में मकान बांटे थे। उस में आराम का ख़्याल था, कीमत का नहीं। अब वह उसे उलटना चाहता है, यद्यपि मुझे कम हिस्सा मिला है, किन्तु जो बात कर ली गई, उस में परिवर्तन न करना चाहिए।" कितना सन्तोषी स्वभाव है? यह मानसिक अशान्ति दीवान (अब राय-बहादुर) बद्रीदास जी के उद्योग से मई मास में दूर हुई। ईश्वर को आपने उसके लिये धन्यवाद दिया।

साहूकारी और ज़मींदारी के काम-काज के लिए पिता जी ने आप को कुछ नसीहतें दी थीं, जिनका उल्लेख आपने २३ फ़रवरी १८८४ की डायरी में दिया हुआ है। वे नसीहतें ये हैं—"(१) रुपया (२) हाकिमों की इज़्ज़त, मेहनत और तकाज़ा, (४) दूसरों को सबक देने के लिये किसी एकाध पर सख़्ती,

(५) ईमानदारी व धर्म भाव, (६) दयानतदार मुलाज़िम, (७) हिसाब व कागज़ात की पड़ताल, (८) आये जाए की ख़ातिर, (९) कोशिश—साहूकारी के लिए ये बातें ज़रूरी हैं।" इसी के बाद आपने लिखा है कि "अगर पिता जी की इन नसीहतों पर सब साहूकार चलने लग जावें, तो कभी बरबाद न हों। हमारे ख़ानदान की उन्नति का कारण इन बातों की ही पाबन्दी है।

ईमानदारी की भावना आप में विद्यार्थी-अवस्था से ही छाई हुई थी। घटना साधारण है, लेकिन आपके स्वभाव पर काफी प्रकाश डालने वाली है। उसका वर्णन आपने स्वयं इस प्रकार किया है कि "विद्यार्थी-जीवन में मैंने एक दूकानदार से एक टोपी ख़रीदी। उसकी कीमत थी छः आना। पैसे पास न थे। फिर देने का वायदा करके मैं घर आया और पैसे भेजना भूल गया। कुछ दिनों बाद बाज़ार गया, तो पैसे देने याद आये। टोपी वाले की दूकान पर गया। उस दुकान पर अब एक अजान बैठा था। पूछने पर पता चला कि टोपी वाला एक सप्ताह हुआ दूकान छोड़ कर किसी दूसरे शहर चला गया है। मैंने उसका पता लगाने की बहुत कोशिश की। पर, कुछ भी पता न चला। टोपी की कीमत मैं उसको अदा न कर सका। जब भी कभी उस दुकान के पास से गुज़रता हूँ, तो मेरे दिल को बहुत रंज होता है। वह पाप मेरे सिर पर रहा। लेनदार की निस्बत कर्ज़दार को अदायगी की ज़्यादा फ़िक्र होनी चाहिए।" ईमानदारी की यह सात्विक भावना देवराज जी के जीवन में पवित्रता पैदा कर उन्हें वास्तव में सन्त

बना डालती है। २५ अप्रैल १८८६ की डायरी में आपने बड़े अभिमान के साथ लिखा है कि "गाँव में कई आसामियों के साथ हिसाब-किताब किया। आसामियों का हमारे हिसाब पर इतना भरोसा है कि वे रसीद भी नहीं माँगते। परमेश्वर को धन्यवाद देना चाहिए।"

इसी प्रकार मेहनत और कोशिश करने का तो यह हाल था कि अपने हाथ से छोटे से छोटा काम करने में भी आपने कभी संकोच नहीं किया। १८८४ की २४ .फरवरी की डायरी में लिखा है कि "इसमें शक नहीं कि लोग मुझे साथ कुदाल लिए आड़ बनाते देखकर ज़रूर हँसते होंगे। मगर .जमींदारों को इसमें शर्म क्या ? मेरी राय में मेरी सभ्यता, उन्नति और सज्जनता में ज़मींदारी के काम से कोई .फर्क नहीं आता, बल्कि नौकरों और दूसरे लोगों का भी काम की ओर रुझान होता है।" खेत में फावड़ा पकड़ कर काम करने के साथ-साथ आप हल चलाने, खेत में पानी देने, पौदे लगाने और गेंहूँ काटने आदि का भी सब काम करते थे। इस आदत से भी आपको अपने सार्वजनिक जीवन में अच्छी सहायता मिली। आर्यसमाज में चपरासी तक का काम करने में आपने कभी लज्जा अनुभव नहीं की। १८८८ में आर्यसमाज का जब मन्दिर बना, तब आपने उसके लिए अपने सिर पर ईंटें ढोईं। उत्सव के लिए खम्भे गाड़ने का काम स्वयं किया। महाविद्यालय का बगीचा और वहाँ की इमारतें आपके इस स्वभाव की चिर-काल तक साक्षी देती रहेंगी।

जालन्धर में सार्वजनिक जीवन का सब से पहिला अनुभव आप को म्युनिसिपल चुनाव से मिला। १८८४ के चुनाव में आपके पिता जी भी खड़े हुए थे। उनका मुकाबला वागे खां से था। पिता जी सफल हुए, लेकिन आपका दिल चुनाव से फिर गया। आपने लिखा है कि "लोग केवल यश या धन की इच्छा से लोकल सैल्फ गवर्नमेंट के लिए कोशिश करते हैं। देश-सेवा को अपना फ़र्ज़ समझने वाले बहुत कम हैं।.........वोटों की बाबत विलायत का-सा हाल होता जाता है। वागे खाँ ने वोटों के लिए मुसलमानों को अपनी तरफ़ करने को साम्प्रदायिक सवाल उठाया है।" इसके बाद आप १९१६ तक चुनाव के झंझटों से दूर रहे। तब रायज़ादा भक्तराम जी प्रान्तीय धारा-सभा के लिए खड़े हुए थे। उनके लिए आपने बहुत कोशिश की थी। आस-पास के शहरों में दौरा भी किया था। उसमें भी कामयाबी हासिल हुई थी।

देश-सेवा अथवा देश-भक्ति की जो भावना हृदय में अँकुरित हो चुकी थी, उसको उन दिनों के अँग्रेज़ हाकिमों के दुर्व्यवहार के कारण विशेष बल मिला। १८८४ की २३ फ़रवरी की डायरी में लिखा है कि "आज मैं मि० सीवर से मिलने गया। अँग्रेज़ देसियों की बहुत कम इज्ज़त करते हैं। अय आर्यावर्त ! तेरे बच्चे क्या हाल भुगत रहे हैं ? दूसरे लोग तेरी दौलत पर मज़े उड़ा रहे हैं।" फिर लिखा है कि "निक्कूमल व मुरलीमल गङ्गाराम वाले मुकद्दमे में बड़े घबराए हुये हैं। सच है कि अँगरेज़ी राज में सच्चा भी डरे और झूठा भी।" १८८७ के फ़रवरी मास में विक्टोरिया

की जुबली पर भी आपको कुछ ऐसा ही अनुभव मिला। जालन्धर शहर में हुई जुबली की रोशनी और आतिशबाजी देखने तो आप गए ही नहीं थे, लेकिन पिता जी के साथ जालन्धर छावनी जाने के लिए मजबूर होना पड़ा। वहाँ से लौट कर आपने अपनी डायरी में लिखा कि "वहाँ बड़ी दुर्दशा हुई। अँग्रेज देसियों को कुत्तों से भी बदतर ख़्याल करते हैं। कभी एक जगह बिठाते हैं, कभी दूसरी जगह। अन्त में हम सबको बाहर निकाल दिया गया। हाय! भारतवासियो! तुम्हारी क्या हालत है? सबका सब देसी शिष्ट-मण्डल आज की कार्यवाही पर नाराज़ है। हम जलसे को छोड़ कर चले आए।" इन घटनाओं का स्वाभाविक परिणाम जो होना था, वह हुआ। आर्यसमाज के मन्त्री के नाते डिप्टी कमिश्नर से आपने उनको समाज की ओर से मान-पत्र देने की इजाज़त माँगी। जवाब आया कि अवकाश नहीं है। इस पर आप लिखते हैं कि "हमें भी अधिक ज़रूरत न थी। अच्छा हुआ, यह जवाब आ गया।"

आप १८९० में जैलदार हुये और उस के बाद आनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे, लेकिन सरकारपरस्त कभी नहीं रहे। सरकारपरस्ती या राजभक्ति आप को छू तक नहीं गई थी। काँग्रेस के कार्य में आप ने अपने को प्रत्यक्ष रूप से कभी नहीं लगाया, क्योंकि कन्या महाविद्यालय के काम में भी अपने को लगा देने के बाद आप के पास दूसरे किसी काम के लिए समय ही कहाँ था? फिर भी उस की ओर आप का झुकाव था।

आप के हृदय में उस के लिये काफ़ी स्थान था। १८८८ में भीमजी और बाबू मुरलीधर काँग्रेस के प्रचार के लिए पंजाब पधारे थे। मुसलमानों ने गुमराह करने वाले लोंगों के बहकाने में आकर आप के प्रचार में विघ्न पैदा किए। जालन्धर में भी वैसा ही हुआ। आप उन के हर एक व्याख्यान में जाते थे। उन के सम्बन्ध में ३० सितम्बर १८६० की डायरी में लिखा है कि "मुसलमानों पर अफ़सोस हैं कि व्यर्थ ही विरोध करते हैं। सरकार के विरुद्ध कोई काम नहीं होता, फिर विरोध का क्या कारण है? 'जालन्धर में जो भी कोई देशभक्त आता, आप उसके व्याख्यान में ज़रूर जाते और उसको महाविद्यालय में लाकर कन्याओं के सामने भी उसका व्याख्यान ज़रूर करवाते। कोई ऐसा देशभक्त नहीं, जो जालन्धर आ कर महाविद्यालय में न गया हो। कुछ लड़कियों को लेकर आप यथासम्भव कांग्रेस के अधिवेशनों में जाते रहे।

उन दिनों में आप के जीवन में जो सब से अच्छी और अनुकरणीय बात पैदा हुई, वह थी समय की पाबन्दी। सवेरे उठने के आप आदी थे। घूमने जाने की भी आपकी पुरानी आदत थी। एकान्त सेवन का नियम भी शुरू किया। यह प्रायः मानसिक शान्ति के लिये किया जाता था। जटिल समस्याओं को एकान्त सेवन के समय हल किया करते थे। इस समय जटिल से जटिल समस्या भी सहज में हल हो जाती थी। १८८४ को २३ जून की डायरी में लिखा है कि "बाबू निहालचन्द तशरीफ लाये। मुझे

समय का पाबन्द देख कर बहुत खुश हुये। सचमुच समय की पाबन्दी उन्नति के लिये पहली बात है।" समय की यह पाबन्दी जीवन की अन्तिम घड़ी तक बनी रही। इसी का परिणाम था कि आपने ७५ वर्ष की आसाधारण आयु प्राप्त की। शरीर में बुढ़ापा छा जाने पर भी मन में युवकों का सा उत्साह और उल्लास बना रहा। जिस काम को हाथ मे लिया उसे पार लगा कर ही दम लिया।

१८६४ की दुर्घटनाओं का उल्लेख भी इसी प्रकरण में कर लेना ठीक होगा। इन दोनों दुर्घटनाओं में आप बाल-बाल मृत्यु से बचे। एक बार आप कहीं जा रहे थे। फिल्लौर में गाड़ी ठहरने पर पेशाब के लिये नीचे उतर गए। दूसरी लाइन में खड़ी हुई माल गाड़ी के पहियों के बीच में बैठ गए। आधा सैकिण्ड ही हुआ था कि माल गाड़ी चल दी। तुरन्त पीछे हट कर सम्भल गए। दूसरी बार किसी विचार में मग्न आर्य समाज से घर जा रहे थे। रेल का फाटक खुला था। ख्याल न रहा कि रेल की पटरी आ गई है। वहाँ पहुँचे कि गाड़ी सिर पर आ पहुँची। एक ही क्षण मे आप उसके नीचे आ जाते, पर, एकाएक सम्भल गए और बच गए। इस प्रकार मौत से बचने की घटनाओं का उल्लेख करने के बाद आपने अपने जीवन की आकांक्षा का उल्लेख इन शब्दों में किया है कि "ईश्वर, यह जीवन अबलाओं के उद्धार में अपर्ण हो।" सचमुच जिस महापुरुष की यह आकांक्षा थी। उसका जीवन ऐसी आकस्मिक घटनाओं का शिकार नहीं हो

सकता था। आकांक्षा की पूर्ति को देवराज जी ने अपने जीवन का मिशन बना कर अन्तिम साँस तक अपने को उसी में योगी की समाधि के समान लगाए रखा। उससे ज़रा भी चल-विचल नहीं हुए।

८—जैलदार और आनरेरी मजिस्ट्रेट

उन्नीसवीं सदी के मध्य में भारत में अङ्गरेज़ी राज का सितारा बुलन्द हो रहा था। हिन्दुस्तानी सेठ साहूकार एवं रईस सरकार के कृपा-पात्र बनने की कोशिश में थे और सरकार को भी ऐसे लोगोंकी ज़रूरत थी। आपका घराना भी साहूकार और रईस था। दादा जमनादास जी के दिनों में करीब १८५३-५४ में जालन्धर शहर में म्यूनिसिपैलिटी नहीं थी, लेकिन शहर में कुछ लोग चौधरी या पञ्च होते थे। वे म्यूनिसिपैलिटी और आनरेरी मजिस्ट्रेटी का काम बिना इस पद के भी किया करत थे। लाला जमनादास जी बड़े अरसे तक यह काम करते रहे। पिता लाला सालिगराम ने १८६१ में जेल दारोगा का काम किया। १८६७ में उना में तहसीलदार होकर चले गए। १८७५ में वे आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाए गए और उन्हें भोगपुर थाना में मजिस्ट्रेटी करने का अधिकार दिया गया। १८८४ में वे म्यूनिसिपल बोर्ड और ज़िला बोर्ड के सभासद् हुए। १८८६ में लोकल बोर्ड के प्रेसिडेण्ट भी हो गए। इस परम्परा का कुछ प्रसाद देवराज जी के हिस्से भी आना था। पिता जी में आपकी अटूट श्रद्धा-भक्ति थी। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना आप के लिए सम्भव नहीं था। बड़े पुत्र बालकराम को शराब का बहुत अधिक व्यसन होने और शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो जाने से

पिता जी की सब आशाओं एवं आकाँक्षाओं के केन्द्र देवराज जी रह गए। इसी से १८६० में पिता जी के आग्रह पर, अपनी इच्छा के सर्वथा विपरीत आपको जैलदारी का काम सम्भालना पड़ा। २२ अप्रैल १८६० को आप छः माह के लिए पिता जी के स्थान पर अस्थायी तौर पर जैलदार बनाए गए, लेकिन ४ ही मास में ३० अगस्त को स्थायी जैलदार नियुक्त कर दिए गए। १८८०, १८६० और १६०० की मर्दुमशुमारी में आपने ख़ूब काम किया। उसके लिए आपको सरकार से सनतें और सार्टिफ़िकेट भी प्राप्त हुए। शहर और ज़िले में हैज़ा, प्लेग आदि की बीमारियाँ फैलने पर भी आपने खूब सेवा की। उस समय के असिस्टेंट कमिश्नर माण्टगुमरी ने आपके कार्य की सराहना करते हुए लिखा था कि "ज़िले व शहर के कुछ लोगों ने यदि लाला देवराज जी के मुकाबले में मुझे आधी सहायता भी दी होती, तो मैं बहुत काम कर सकता और प्लेग से बहुतों की जान बचा सकता।" आपके जैलदारी के काम और विद्यालय की भी इस पत्र में अच्छी तारीफ़ की गई है।

सचाई और ईमानदारी के साथ सब काम को निबाहते हुए भी जैलदारी के काम में आपका दिल कभी नहीं लगा। १८६८ की डायरी के ४ अगस्त के पन्ने पर लिखा हुआ है कि "आजकल जैलदारी का काम बहुत कसरत से करना पड़ता है। सच तो यह है कि मुझे जैलदारी का काम पसन्द नहीं। हुक्काम बहुत ज्यादा दबाव डालते हैं। ख़ास कर पुलिस यह उम्मीद करती है कि जैलदार

उचित अनुचित जिस तरह भी हो उसके कहने के अनुसार काम करे। मुझ से यह हो नहीं सकता। जैलदारी का काम सिर्फ़ लाला जी के हुक्म की तामील करने के लिए कर रहा हूँ।" लाला जी से मतलब पिता जी से है।

पिता जी का १९१३ में देहावसान हुआ, तो आनरेरी मजिस्ट्रेटी भी सिर पर आ पड़ी। कुछ मित्रों और रिश्तेदारों के दबाव में आकर एक दरख्वास्त दे दी थी। बस, उसी पर १५ दिसम्बर १९१३ को मजिस्ट्रेटी मिल गई। उस समय के डिप्टी कमिश्नर ने अपने हाथ से आपको बधाई का पत्र लिखा और यह आशा प्रगट की कि आप भी अपने पिता के समान आजीवन मजिस्ट्रेटी के अधिकारों का उपभोग करते रहेंगे। आनरेरी मजिस्ट्रेटी का काम भी आपने पूरी योग्यता के साथ निबाहा। कभी किसी को अपने पर अँगुली उठाने का मौका नहीं दिया। हिन्दुओं और मुसलमानों, जनता और अधिकारियों—सभी में आप एक सरीखे लोक-प्रिय थे। कन्या-महाविद्यालय के समान ही अदालत का काम भी नियमपूर्वक करते थे। अकारण अदालत के काम में कभी नाग़ा नहीं किया और मजिस्ट्रेटी के नाते अपने सिपुर्द किए गए काम को पूरा करने में कभी ग़फ़लत नहीं की। मुहर्रम, रामलीला आदि पर समान दृष्टि से और निष्पक्षभाव से अपना कर्तव्य-पालन करते रहे 'इण्डियन वार लोन' के उगाहने में आपने जिस तत्परता का परिचय दिया; उसके लिए आपको शाही सनद मिली। लेकिन, १९२० में देश में खिलाफ़त और स्वराज्य के आन्दोलन का सूत्रपात होने पर

आपने 'आनरेरी मजिस्ट्रेटी को तुरन्त नमस्कार कर दिया। मानों उससे छुटकारा पाने के लिए आप किसी ऐसे अवसर की खोज ही में थे।

११ अक्तूबर १९२० को आनरेरी मजिस्ट्रेटी को तिलांजली दे डाली। उसको छोड़ने के कारण आपने अपनी डायरी में इस प्रकार लिखे हैं:-

(१) मैंने अनुभव किया कि मजिस्ट्रेटी से पहिले लोग मेरे साथ अकसर अच्छी तरह मिलते थे। अपना काम छोड़ कर मेरी बात सुनते थे। लेकिन, आनरेरी मजिस्ट्रेट होने पर मैं उनकी नज़रों से गिर गया।

(२) मैं अफ़सरों की ख़ुशामद करना और उनको ख़ुश करने के लिए बातें बनाना नहीं जानता था।

(३) पुलिस का खुश नहीं कर सकता था। मेरे ख़्याल में जो आदमी ख़ुशामद, चापलूसी और जोहज़ूरी में माहिर नहीं वह आनरेरी मजिस्ट्रेटी नहीं कर सकता। मेरे अन्दर इन सब बातों का अभाव था। इस लिए मैंने उससे स्तीफ़ा दे दिया। मजिस्ट्रेटी मुझे केवल एक दरख़ास्त पर बिना किसी विशेष कोशिश के मिल गई थी।"

जिस देव पुरुष ने देश की देवियों को स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान का पाठ पढ़ा कर उनको--

"एह देश रसीला साडा ए।
एह देश रंगीला साडा ए॥

एह देश फलाँ ते फुल्लाँ दा ।
निर्मल नदियाँ कूलाँ दा ॥
एह देश हिमालय पर्वत दा ।
जग सारे बिच उच्चा झंडा ॥
ऋषि मुनियाँ दा जो प्यारा ए ।
सो भारतवर्ष हमारा ए ॥"

के गीत लिखाए थे, वह कैसे सरकारपरस्ती के वातावरण में गुज़र कर सकता था ? उसके लिये यह सम्भव ही नहीं था कि कन्याओं को तो देश-भक्ति व देश-सेवा के गीत सिखावें और स्वयं खुशामद, चापलूसी एवं जी-हुजूरी में लगा रहे । लड़कियों को आज़ादी का पाठ पढ़ाने वाले देवराज जी आनरेरी मजिस्ट्रेटी का परित्याग कर स्वयं भी आज़ाद हो गये ।

९—अख़बारी दुनिया में

"मैं जब ६–१० साल का था, तो उन दिनों में" "इन्द्र-सभा" का नाटक करने वाले कुछ लोग जालन्धर में आए थे। यह नाटक पिता जी ने घर में भी करवाया था। इस पर मैंने भी एक नाटक लिखा था, जो "इन्द्र-सभा" की नक़ल था। तुकबन्दी के लिए यह मेरी पहली कोशिश थी। मैंने इनमें परियों के अनोखे नाम रखे थे। जैसे रत्तो, सत्तो, चोखी आदि। एक दिन बड़े भाई से गुली-डण्डा खेलते समय कुछ लड़ाई हो गई, इस पर उन्होंने मेरा वह नाटक फाड़ दिया। मेरी दूसरी तुकबन्दी विभिन्न विषयों पर थी। उन में से एक तो अपने पड़ोस के एक लड़के पर थी, दूसरी अपने एक अन्य सहपाठी की निन्दा में और तीसरी बाबू खुशहालचन्द की तारीफ़ में। फिर मैंने समाज में आकर जो कविताएं कीं वे ईश्वर-प्रार्थना के बारे में थी।" डायरी की इन 'पंक्तियों' से पता चलता है कि चरित्रनायक में कलम चलाने का शौक़ बहुत छोटी अवस्था में ही पैदा हो गया था। यह शौक़ जब परिष्कृत हुआ और हृदय में देश व समाज की सेवा की भावना जागृत हुई तब लाला देवराज जी को कुशल लेखक, भावुक कवि, सफल पत्रकार और यशस्वी साहित्य-सेवी बनने में अधिक समय नहीं लगा। आपके साहित्य सौर साहित्य-सेवा का

परिचय स्वतन्त्र रूप में अगले पृष्ठों में दिया जायगा। यहाँ तो केवल समाज-सेवा के नाते उनके पत्रकार-जीवन के परिचय में कुछ पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं।

१८८० से २० वर्ष की आयु से, आपने अपनी डायरी में लिखने का नियम बनाया और उसको यथा सम्भव प्रयत्नपूर्वक निबाहा। वे सब डायरियाँ उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन जितनी भी उपलब्ध हैं, उनसे पता चलता है कि आप को लिखने-पढ़ने एवं स्वाध्याय की ओर विशेष रुचि रही है। डायरी लिखने का नियम आपने पिता जी की देखा-देखी बनाया था। वे भी नियम से अपनी डायरी लिखा करते थे। उस समय आप मैट्रिक में पढ़ते थे। समाचार-पत्रों के लिए लेख लिखने का क्रम भी तब से ही शुरू हो गया था। २० नवम्बर १८८० को आप 'तिज़ारत" नाम के उर्दू साप्ताहिक के संवाददाता बन गये और अन्य अनेक कुशल एवं सफल पत्रकारों के समान आपने सम्वाददाता के रूप में ही पत्रकार के जीवन में प्रवेश किया। १८८४ में जब आप जालन्धर आकर रहने लग गए तब "केसरी" के सम्पादक ने आप से उसके लिए लेख लेने शुरू किए और कुछ समय बाद आप ही उस के सम्पादक बन गए। आपके सम्पादकत्व में पत्र का रूप रंग और सम्पादन सब बदल गया।

देशोन्नति .फण्ड' कायम करते हुए आपके सामने बिरादरी का एक रिसाला निकालने का भी विचार था और .फण्ड के उद्देश्यों में भी यह बात दर्ज थी। लाला मुन्शीराम जी ने

आर्य समाज के कार्य के लिए जब ' अनन्द. सुआसद पत्र "सद्धर्म प्रचारक" का प्रकाशन, आरम्भ किया, तब उनके इस काम में पूरा हाथ बटाया। पहिले लेख आदि लिखते रहे। फिर २ अप्रैल १८९० को उसके सम्पादक हो गए। कन्या-महाविद्यालय के बारे में लाला मुन्शीराम जी आदि से कुछ मत-भेद हुआ, तो आपको विद्यालय के, प्रचार उस पर किए जाने वाले आक्षेपों का जवाब एवं उसके बारे में पैदा किए जाने वाले भ्रमों का निराकरण करने के लिए पत्र की ज़रूरत अनुभव हुई। ३ फरवरी १८९९ को यह सूचना निकाली गई कि सौ ग्राहक मिल जाने पर "सहायक" शुरू कर दिया जायगा। १ मार्च १८९९ को लाला बदरीदास और आप के सम्पादकत्व में उसका प्रकाशन शुरू कर दिया गया। उस समय पत्रकार का काम कितना सहल होगा? आज कौन सौ ग्राहकों पर पत्र निकालने का साहस कर सकता है? मालूम होता है कि "सहायक" साल डेढ़ साल से अधिक नहीं चला। हिन्दी की मासिक पत्रिका "पांचाल पण्डिता" "सहायक" से भी दो वर्ष पहिले नवम्बर १८९७ में शुरू की गई थी। उसके करीब २० पृष्ठ होते थे, १६ हिन्दी के और ४ अंगरेज़ी के। हिन्दी के पृष्ठ लाला देवराज जी लिखते थे और अंगरेज़ी के लाला बदरीदास जी। १९०१ अप्रैल में अंगरेज़ी के पृष्ठ बन्द कर दिये गये और "पत्रिका" विशुद्ध हिन्दी में निकलने लगी। तब से दो वर्ष तक आपने अकेले उसका सम्पादन किया।

जनवरी १६०३ से पण्डिता सावित्रीदेवी उसकी उपसम्पादिका बनाई गईं पञ्जाब में हिन्दी में सब से पहले निकलने वाली यही पत्रिका थी और सम्पादिका का कार्य करने वाली सब से पहली देवी सावित्री जी थीं। "पांचाल पण्डिता" थी तो महाविद्यालय की मासिक पत्रिका, लेकिन उसका सञ्चालन स्त्री-जाति के उपकारार्थ होता था और इस में सन्देह नहीं कि पत्रिका ने इस उद्देश्य को पूरा कर के अपने जन्म को पूरी तरह सफल कर दिखाया। स्त्रियों और लड़कियों में लेख लिखने की प्रवृत्ति पैदा करने के लिये कोई न कोई प्रतियोगिता सदा ही रखी जाती थी और प्रतियोगिता में प्राप्त होने वाले लेखों को "पण्डिता" में प्रकाशित किया जाता था। महाविद्यालय के समाचारों को तो नाम-मात्र का स्थान मिलता था, बाकी पत्रिका में स्त्रियोपयोगी लेख, महिला-अन्दोलन और उनकी जागृति के समाचार रहते थे। कन्या-पाठशालाओं के समाचारों और स्त्री-समाज के उत्सवों के समाचारों को विशेष स्थान दिया जाता था। पंजाब के बाहर की महिलाओं की संस्थाओं की गति-विधि का विवरण भी दिया जाता था। एक अङ्क में श्रीमती सरोजनी नायडू की कविताओं की चर्चा है और दूसरे में उनकी जीवनी है। बङ्गला पत्र "अन्तःपुर" की सम्पादिका श्रीमती बनलता देवी के देहावसान पर पूरे एक पृष्ठ में शोकोद्गार लिखे गये हैं। पौराणिक गाथाओं को सरल भाषा और उत्साहवर्धक ढंग में लिख कर प्रकाशित करना "पत्रिका" की विशेषता थी। ये कथायें

प्रायः देवराज जी स्वयं लिखा करते थे। देवराज जी की इच्छा 'पण्डिता' को 'सरस्वती' के ढंग की पत्रिका बनाने की थी। उसमें एक जगह आपने लिखा है कि "पण्डिता अधिक काम करना चाहती है। इसलिये इसे अपना आकार बड़ा करना पड़ा है। इसकी इच्छा महीने में दो बार प्रकाशित होने की है " फिर इसके 'सरस्वती' साईज में प्रकाशित होने की भी सूचना दी गई है । पर, मालूम होता है कि १९०६ के अन्त में इसका अन्तर्धान हो गया।

कन्या-महाविद्यालय के प्रचार की दृष्टि से २४ नवम्बर १९११ को उर्दू साप्ताहिक "भारत" आप के ही सम्पादकत्व में करीब तीन वर्ष चला मालूम होता है। १९२०-२१ में हिन्दी की मासिक "पत्रिका" "भारती' 'निकाली गई, जिसने "पाँचाल पण्डिता" के अभाव को पूरा करने का यत्न किया। जून १९२२ से महाविद्यालय की पत्रिका के रूप में हिन्दी का मासिक "जलविद्-सखा" अब तक निकल रहा है। इसका सम्पादन विद्यालय की स्नातिका मोगा की कुमारी सत्यवती ने चिरकाल तक किया। अब राहों की कुमारी शकुन्तला देवी कर रही हैं। बीच में कुछ समय के लिये विद्यालय के हिन्दी के प्रोफ़ेसर पं० चेतराम शर्म्मा भी इसका सम्पादन करते रहे।

इस प्रकार अख़बारी दुनियाँ में लाला देवराज जी को निस्सन्देह सफल पत्रकार और कुशल लेखक कहा जा सकता है। आपकी साहित्य-सेवा और भी अधिक यशस्वी और महान् थी।

१०—धर्म-संकट

धर्म-संशोधकों और समाज-सुधारकों को अपने जीवन में बड़े बड़े संकटों और मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। कोई ऐसा महापुरुष नहीं हुआ, जिसे धर्म-संकट का सामना न करना पड़ा हो। सुकरात को विष का प्याला पिलाया गया। ईसा को शूली पर लटकाया गया। मुहम्मद पर ईंट-पत्थर बरसाये गये। गौतम बुद्ध और ऋषि दयानन्द को घर का परित्याग करना पड़ा। कितनों को ही जात-बिरादरी और घर वालों के अनाचार और अत्याचार का शिकार होना पड़ा। पानी की तेज धारा के विरुद्ध तैरने के लिये भुजाओं में काफी शक्ति और सामर्थ चाहिये। हमारे चरित्र-नायक भी बहती धारा के विरुद्ध तैरने वालों में से थे। राजभक्त परिवार में देशभक्ति का सपना देखते हुये उन्होंने आँखें खोली थीं। पौराणिकता के दुर्ग सौंधी वंश में वे समाज-सुधार की आकांक्षाओं के साथ प्रगट हुये थे। उनके सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश आर्यसमाज की सेवा के साथ हुआ था। स्त्रीजाति की, हीन एवं पराधीन स्थिति के विरुद्ध विद्रोह करने की उन्होंने छात्रावस्था में ही ठान ली थी। ऐसे देशभक्त, सुधारक, समाज-सेवक और विद्रोही को घर वालों के रोष और समाज के असन्तोष का सामना न करना पड़ता तो आश्चर्य होता।

देवराज जी के पिता कट्टर सनातनी थे। समाज और बिरादरी में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। जब देवराज जी दिल खोल कर आर्यसमाज के काम में लग गये और दिन-रात सनातन-धर्म-सभा से शास्त्रार्थ होने लगे, तब पुराने ख़्यालात के लोगों ने बिरादरी से ख़ारिज करने की धमकी के साथ साथ पिता जी के पास जा कर शिकायतें भी करनी शुरू कीं। ऐसे लोगों के पास ये दो ही साधन थे। इन दोनों को आपके विरुद्ध पूरी तरह काम में लाया गया। जात-बिरादरी से ख़ारिज किये जाने की घटना का वर्णन स्वामी श्रद्धानन्द जी (तब लाला मुन्शीराम जी) ने "कल्याण मार्ग का पथिक" नाम से लिखे गये आत्म-चरित में लिखा है। उसमें आपने लिखा कि "थापर खत्रियों के दीवानखाने में आर्यसमाजियों को जाति-च्युत करने की व्यवस्था देने के लिये ब्राह्मणों की पंचायत बुलाई गई। शहर में बड़ी हलचल मच गई। जिनके लड़के, पोते, दोहते, भतीजे, आदि आर्यसमाजी थे, वे उन ब्राह्मण धर्माभिमानियों की सूचि बनाने लगे, जिनको काला अक्षर भैंस बराबर था और जो गायत्री मन्त्र से भी अनभिज्ञ थे। व्यवस्था देने वालों में किसी के सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध था कि वे एक सम्बन्धिनी स्त्री से फँसे हुये हैं। दूसरे शिरोमणि और लोकमान्य माने जाने वाले भी व्यभिचार दोष के लिये बदनाम थे। तीसरे जुएबाज़ थे। देवराज जी ने भी इसमें से ही एक से जनेऊ लिया था। वे उनके पास मेरे साथ गये और उनसे बोले--"पण्डित जी

आप मेरे गुरु हैं। आप पञ्चायत कीजिये। हमारा प्रश्न यह होगा कि जो इस प्रकार के पापाचार में लिप्त है, उसको पहिले गधे पर सवार करके देश से निकाल दिया जाय, तब हम अपनी सफ़ाई पेश करेंगे।" देवराज जी की धमकी काम आ गई। पंचायत का समय आया, तो शिरोमणि जी प्रातः काल ही टिकिट कटवा कर अमृतसर चल दिये। देवराज जी के गुरु हाथ में लोटा ले, कान पर जनेऊ चढ़ा सवेरे दस बजे जो जङ्गल को गये, तो शाम तक वापिस नहीं लौटे। पंचायत में पाँच भी ब्राह्मण न आये।"

जात-बिरादरी के, बहिष्कार का तोपखाना तो इस प्रकार फ़ेल हो गया। उसका भय देवराज जी के मन में कभी भी पैदा नहीं हुआ। लेकिन, अर्जुन के समान घर के बड़े-बूढ़े लोगों, विशेष कर पिता जी की नाराज़गी का सामना करना आपके लिये कठिन हो गया। उसके लिये महात्मा बुद्ध और महर्षि दयानन्द के समान एक ही मार्ग था कि घर का परित्याग कर दिया जाय। दो बार ऐसा करने का मौका आया और दोनों ही बार पिता जी को दृढ़-निश्चयी पुत्र के सामने झुकना पड़ा। पहली घटना २० मार्च १८८७ की है। इसका वर्णन आपने अपनी उस दिन की डायरी में इस प्रकार लिखा है। "लाला जी समाज के बारे में सख्त नाराज़ हैं और फ़रमाया कि हमारी इससे बहुत बदनामी होती है, तुम कहीं बाहर चले जाओ। मैंने देखा कि लाला जी को मेरे से कष्ट पहुँचता है। बस, मैंने घर की सारी चाबियाँ उनके हवाले कर दी

और सफ़र की तय्यारी कर ली। इरादा था कि कोटा जाकर यहाँ नौकरी कर लूंगा और आर्यसमाज का काम करूंगा। लाला मुन्शीरामजी से भी सलाह कर ली थी। सब असबाब बाँध लिया। घर के किसी भी आदमी को कुछ भी मालूम नहीं है कि मैं अपनी प्यारी स्त्री, पुत्र गन्धर्व और माँ तथा भाइयों से बिछुड़ने वाला हूँ। समाज जालन्धर से वैराग्य होने वाला है। फिर भी मुझे हौसला है। कहीं भी जाऊँगा, मेरा दिल जालन्धर आर्य समाज के साथ रहेगा। मैं अपनी मेहनत से खाऊंगा और कुछ बचत जालन्धर समाज को भेजूंगा। दुपहर को लाला जी ने मुझे बुलाया और कहा कि अब हम नाराज़ नहीं हैं। यह भी जाहिर किया कि आर्यसमाज अच्छी चीज़ है। मगर, ज़रा सोच-समझ कर कार्य किया करो। उस तरह की बहुत-सी बातें कहीं। पर मेरा इरादा पुख्ता ही रहा। लाला जी ने यह देख कर लाला गुरुदित्तामल को बुलाया और मुझे समझाने के लिये मेरे पास भेजा। उन्होंने समझाया कि पिता जी आर्यसमाज के उसूल को पसन्द करते हैं और उसका काम करने की हर तरह की इजाज़त देते हैं। इस पर मुझे यह फैसला करना पड़ा कि मै घर से न जाऊं और न जालन्धर आर्यसमाज से जुदाई लूं। मैंने समाज का कार्य करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।"

दो साल बाद १८८६ में फिर ऐसी ही स्थिति पैदा हुई। फ़रवरी के शुरु में पिता जी को लोगों ने फिर भड़का दिया। इस घटना का उल्लेख करते हुये देवराज जी ६ फ़रवरी १८८६ की

डायरी में लिखते हैं कि "लाला गुरुदित्ता मल ने लाला जी का लाला मुन्शीराम के नाम लिखा हुआ एक खत लाकर दिया। इसमें लिखा था कि देवराज के सबब हमारी बड़ी बदनामी होती है। इस लिये देवराज या तो समाज को छोड़ दे अथवा यहाँ न रहे। मैं रात भर इस बात पर विचार करता रहा। मेरे अन्तरात्मा ने कहा कि "धर्म से बढ़ कर और कोई पदार्थ नहीं है। बस, दुआबा जालन्धर के लिये एक मिसाल बन जानी चाहिये।"

८ फ़रवरी को थोड़ा-सा सामान साथ ले, ईश्वर को स्मरण कर, घर से मेरठ के लिये चल दिये। सहारनपुर तक पकड़े जाने का भय रहा। उसके बाद पकड़े जाने का सब भय जाता रहा। मेरठ से अलीगढ़ पहुँचे। वहाँ डा० किशनचन्द के यहाँ निश्चिन्त होकर रात काटी। ६ फ़रवरी को सवेरे १० बजे इलाहाबाद के लिये रवाना हो गये १० को सवेरे ३ बजे वहाँ पहुंचे। स्टेशन से वैदिक यन्त्रालय गये। यन्त्रालय से मतलब छापाखाना है। उसके मैनेजर लाला शिवदयाल सिंह के अतिथि रहे। शाम को समाज के अधिवेशन में भी शामिल हुये। समाज का चुनाव था। उसे देख कर प्रसन्न हुये। बाज़ार में होने वाले प्रचार को भी देखा। रात को भी वहाँ ही आराम किया। ११ फ़रवरी को सवेरे ८ बजे कलकत्ता के लिये बिदा हो गये। १२ फ़रवरी की सवेरे ८ बजे कलकत्ता पहुँचे। स्टेशन से ६ रिपन स्ट्रीट में बाबू महावीरप्रसाद के मकान पर गये। ये दृढ़ आर्य और व्यापारी सज्जन थे। इनको इतना ही पता दिया कि रंगून जा रहा हूँ। वहाँ अनेक आर्य सज्जनों से मिले।

पं० रुद्रदत्त जी के साथ समाज-मन्दिर गये, आर्यावर्त्त प्रेम देखा और जहाज़ की यात्रा के लिये खाने-पीने का कुछ आवश्यक समान खरीदा। दुपहर को ३७॥) मे दूसरे दरजे का टिकट खरीद कर 'नदिया' जहाज़ के कैबिन मे एक सीट रिज़र्व करवा ली। इधर ये तय्यारियाँ हो रही थीं कि घर से समाज के मन्त्री के नाम तार आया कि "देवराज को ठहरा लो।" महावीरप्रसाद जी ने बहुत समझाया, पर आप अपने विचार पर दृढ़ रहे। सब किस्सा सुन कर वे भी आप से सहमत हो गये। शाम को जाकर जहाज़ और केबिन भी देख आये। वहाँ से समाज-मन्दिर पहुँचे तो पण्डित रलाराम जी मिले। वे जालन्धर से आपकी ही खोज में आये थे। उन्होंने बहुत समझाया पर आप नहीं माने। १३ फ़रवरी को बड़े सवेरे समाज-मन्दिर से चुपके से निकल, बाबू महावीरप्रसाद जी के घर जा, वहाँ से सब सामान ले, जहाज पर पहुँचे। ज़हाज़ चल चुका था। किश्ती किराया करके जहाज़ पर सवार हुये। दो मील पार जहाज़ पकड़ा। १४ फ़रवरी को जहाज़ डायमण्ड हार्बर पर पहुँच कर विलायती डाक लेने के लिये रुका करीबन दस बजे जो स्टीमर डाक लेकर आया उसी से महाशय नन्दलाल जी एक बंगाली के साथ आये। उनको देख कर आप चकित रह गये। पहिले तो लौटने से आपने इनकार किया फिर उन्होंने पिता जी का तार दिखाया कि 'हुक्म की तामील करो, वापिस लौटो।" हठ पर आज्ञा-पालन की विजय हुई। जिस पुत्र की पिता पर अगाध श्रद्धा भक्ति थी, जिसने कभी स्वप्न मे भी

उनकी आज्ञा का उलङ्घन नहीं किया था और जो उनको अप्रसन्न करने का विचार तक कभी दिल में नहीं लाया था,उसने उस आज्ञा के सामने तुरन्त सिर झुका दिया। बड़े जहाज़ से छोटे स्टीमर पर सवार होकर किनारे आये और किनारे से रेल पर सवार हो कलकत्ता पहुँचे। पं० रलाराम जी आदि को सब बातों का एक ही जवाब दिया कि "तामीले हुक्म के लिये गया था और हुक्म से ही लौट आया हूँ।" दूसरे दिन १५ फ़रवरी को लाला गुरुदित्तामल जी भी वहाँ पहुँच गये। २-३ दिन दिन भर कलकत्ता की सैर की। काली के मन्दिर पर भैंसों का बलिदान और बङ्गाली स्त्रियों को उनके गोश्त के टुकड़े करते देख कर आपका दिल बहुत बेकरार हो गया। १७ फ़रवरी को लौटे। रास्ते में पटना, कानपुर, मथुरा, बृन्दावन और मेरठ होते हुये २३ फ़रवरी को ४ बजे सवेरे जालन्धर लौट आये। पिता जी के पैरों में सिर नवाया। माता जी की चिन्ता मिटी। घर वालों का दुःख नष्ट हुआ। देवराज जी के मार्ग में से एक बड़ी बाधा दूर हो गई। धर्म-संकट की कठोर परीक्षा मे आप पार हो गये। पिता जी से आर्यसमाज के कार्य के लिये पूरा अभयदान मिल गया। लेकिन, लङ्काकाण्ड के बाद अभी सीता जी की अग्नि-परीक्षा बाकी थी।

आर्यसमाज और कन्या महाविद्यालय के कार्य में परायों से अधिक अपनों द्वारा पैदा किये गये विघ्न-बाधा एवं विरोध का सामना करने में ही असली परीक्षा थी और उसे ही वास्तविक धर्म-संकट समझना चाहिए। उसका विस्तृत

विवेचन यथास्थान किया जायेगा। यहाँ केवल एक घटना दी जाती है।

कन्या महाविद्यालय के लिए १८८८ के अन्तिम दिनों के बाद के कुछ वर्ष बहुत संकट के रहे हैं। बाहरी विरोध का तो उस समय बहुत कुछ अन्त हो गया था, लेकिन कार्यकर्ताओं में आपस के विरोध से गृह-युद्ध की-सी स्थिति पैदा हो गई थी। लाला देवराज जी के ये दो-तीन वर्ष बहुत ही अधिक चिन्ता में बीते। आप पर अपने ही साथियों द्वारा यह दोष लगाया जाता था कि आप महाविद्यालय के सर्वेसर्वा बनना चाहते हैं उस समय की वास्तविक स्थिति का चित्र खींचने के लिए आपकी डायरी के कुछ शब्दों को यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है। उस दोष का निराकरण करते हुए आप लिखते हैं कि "यह मेरा कुसूर नहीं। मेरा मन स्त्री-समाज के अर्पण हो चुका है। इसलिए अधिक काम मुझे अपने हाथ से करना पड़ता है। मैं यह काम मुक्ति का साधन समझ कर करता हूँ। प्रबन्धकर्तृसभा होकर यह तय हुआ कि मेरी जगह महाविद्यालय के प्रबन्धकर्ता का काम लाला रामकृष्ण जी और आश्रम का मास्टर सन्तराम जी करें। जिस समम यह विचार हो रहा था, मैं पागल की तरह महाविद्यालय की दीवारों की तरफ देख रहा था। मेरे होश-हवाश गायब थे। मेरे मन मे यही विचार उठ रहे थे कि हाय! क्या मैं विद्यालय से अलग हो रहा हूँ! विद्यालय का क्या हाल होगा? कन्याओं की देखभाल कौन करेगा? निस्सन्देह लाला रामकृष्ण और लाला मुन्शीराम

मुझ से अधिक योग्य हैं, लेकिन मैंने तो इस काम को अपनी ज़िन्दगी का मकसद बनाया हुआ है। मैं तो कन्याओं का माता-पिता बना हुआ हूँ। सब के घरों में चला जाता हूँ। इन साहेबान से ऐसा न हो सकेगा। इतना समय भी इनके पास कहाँ है? महाविद्यालय का ज़रूर नुक़सान होगा। लगा हुआ पौदा मुर्दा हो जायगा। हाय! यह क्या हो रहा है? मुझे अपनी कन्याओं से अलग किया जा रहा है। ईश्वर इच्छा! सारी रात नींद नहीं आई। मैं रोता रहा। सोचता था कि शायद् ये साहेवान् मेरे काम को नहीं समझे। ये कन्याओं के प्रति मेरे मातावत् हित को नहीं जानते। कन्याओ! मैं जब तक जिऊँगा, तुम्हारी ही सेवा करूँगा।"

इधर देवराज जी की मानसिक अवस्था का यह हाल था और उधर कन्या-महाविद्यालय में एक अजीब स्थिति पैदा हो गई। लड़कियों और अध्यापिकाओं में असन्तोष और विक्षोभ फैल गया। उन्होंने बुरी तरह रोना और विलाप करना शुरू कर दिया। लड़कियों ने भोजन तक करने से इन्कार कर दिया। शहर में भी कुछ शोर मच गया। दूसरे दिन प्रबन्धकर्तृसभा की बैठक होकर पहिले दिन का निश्चय बदला गया। आपस का मतभेद दूर करने की कोशिश की गई। लाला देवराज जी के हाथों में पहिले की भाँति सारा काम सौंपा गया। इस पर आपने लिखा है कि "मेरी ज़िन्दगी में यह अजीब दिन था। इस घटना से मेरा महाविद्यालय और कन्याओं के साथ और भी प्रेम हो गया। मैंने आगे से ज़्यादा काम करने का निश्चय किया। ईश्वर, यही प्रेम बना रहे।"

इस गृह-कलह का यहाँ ही अन्त नहीं हो जाता। वह और भी लम्बी खिंचती है। लेकिन, ऊपर की पंक्तियाँ यह दिखाने के लिए बस हैं कि इस गृह-कलह के धर्म-संकट की अग्नि-परीक्षा में देवराज जी कुन्दन बन गये। मुक्ति की साधना के लिए योगी ने जो समाधि लगाई थी, उसमें वह इस गृह-कलह के बावजूद भी निमग्न रहा। उसकी समाधि नहीं टूटी। धीर पुरुष निन्दा, स्तुति और मृत्यु की तनिक भी परवा न कर न्याय-पथ से विचलित नहीं होते, यह देवराज जी ने जैसे सार्वजनिक जीवन में दिखाया था, वैसे ही महाविद्यालय के कार्य में भी दिखा दिया।

११—आर्यसमाज में

उन दिनों पञ्जाब में आर्यसमाज की प्रारम्भिक अवस्था थी। उसका अच्छा ज़ोर था। शिक्षित लोगों के दिलों पर स्वत: ही आर्यसमाज का कब्ज़ा हो रहा था। जीवन, जागृति और चेतना के आर्यसमाज के दिव्य सन्देश में प्रभात के सूर्य के समान एक स्वाभाविक आकर्षण था। फिर उन दिनों के आर्य-समाजियों के जीवन में श्रद्धा, विश्वास, लगन और धुन की अनोखी भावना काम कर रही थी, जो चुम्बक की तरह दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। वे कोरे प्रचार-प्रधान धर्म के ही उपासक नहीं थे, लेकिन आचार-प्रधान धर्म की साधना में दत्तचित्त थे। ऋषि दयानन्द के आदेश एवं उपदेश के अलावा उनके व्यक्तिगत जीवन की भी उनके जीवन पर बहुत गहरी छाप पड़ी हुई थी। उन्होंने वास्तव में ही अपने सिद्धान्तों के लिए, आर्यसमाज के लिये, घर वालों के असन्तोष और जात-बिरादरी के रोष के फलस्वरूप सामाजिक बहिष्कार की भीषण यातनायें झेली थीं। हरिजनों को गले लगाने के लिए उन्हें अपने घरों से जुदा होना पड़ा था। इस सबका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज प्रचण्ड जल-धारा और भीषण अग्नि-ज्वाला की तरह चारों ओर फैल गया। उसने सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक अन्ध-विश्वासों को

मिटाने में दावानल की तरह काम किया। ईसाइयत का नाग मुँह फैलाये भारतीयता को हड़पने के लिए दौड़ा चला आ रहा था। आर्यसमाज उसके लिए क्रूर काल साबित हुआ। जैसे कभी महत्वाकाँक्षी सिकन्दर की सेनाओं को सतलुज के पश्चिमी किनारे से वापिस होना पड़ा था, वैसे ही बृटिश साम्राज्यवाद की जड़ों को पाताल में पहुँचाने वाली ईसाइयत की लहर को सतलुज के पूर्वीय किनारे से पीठ मोड़नी पड़ी। सिकन्दर की सेनाओं को प्रतापी चन्द्रगुप्त ने पराजित किया था, इन सेनाओं को आर्यसमाज ने पञ्जाब में पैर नहीं टिकाने दिये। इस तेजस्वी संस्था की ओजस्वी लहर ने अनेक ऐसे तपस्वियों को जन्म दिया, जिनको पाकर पञ्जाब धन्य हो गया। श्री साईंदास जी, पण्डित गुरुदत्त जी, पण्डित लेखराम जी, पण्डित पूर्णानन्द जी, पञ्जाब केसरी लाला लाजपतराय जी, महात्मा मुन्शीराम जी (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द जी), लाला देवराज जी आदि स्वर्गीय और उन दिनों की अब तक याद दिलाने वाले पितामह महात्मा हंसराज जी, लाला रामकृष्ण जी और आचार्य रामदेव जी आदि ऐसे तपस्वी महापुरुषों में अग्रगण्य हैं।

यह कहना कठिन है कि लाला देवराजजी का आर्यसमाज की ओर कैसे झुकाव हुआ? मालूम यह होता है कि देशभक्ति, समाज-सुधार और जातीय सेवा की जो भावना छात्रावस्था में आपके हृदय में पैदा हो चुकी थी, वही आपको आर्यसमाज में खींच लाई। माता की सङ्गति में पैदा हुई धार्मिक एवं सात्विक

वृत्ति वैसे ही आपको आर्यसमाज में ले आई, जैसे नदियाँ स्वाभाविक तौर पर समुद्र में जा मिलती हैं। लाला मुन्शीराम जी "जिज्ञासु" के रूप में आर्यसमाज में प्रविष्ट हुये थे और आप "सत्यप्रकाश" के रूप में आर्यसमाज में शामिल हुये। लाला मुन्शीराम जी ने जिज्ञासु-भाव से कई संस्थाओं को परखा था। ईसाइयत की ओर वे झुके थे। ब्राह्मसमाज के ग्रन्थों का उन्होंने यथाविधि स्वाध्याय किया था। लाहौर में वे उसके सत्सङ्गों में भी शामिल होते थे। अन्त में 'सत्यार्थ प्रकाश' के स्वाध्याय से वह जिज्ञासा और धर्म की पिपासा पूरी हुई। इसी प्रकार 'सत्य' के 'प्रकाश' की खोज में लगे हुये लाला देवराज जी को आर्यसमाज में वह दिव्य प्रकाश मिल गया। अथाह समुद्र की छाती पर तैरते हुये जहाज़ के कप्तान को प्रकाशस्तम्भ के दर्शन हो गये। आर्यसमाज मे प्रवेश करने के बाद सम्भवतः इसीलिये आपने अपना नाम 'सत्यप्रकाश' की जगह "स्वत प्रकाश" रख लिया, जिसका अभिप्रायः यह था कि आपने स्वयं प्रकाश की खोज की थी। कुछ विनोदी मित्र आपको 'सुत प्रकाश' भी कहा करते थे, जिसका अर्थ था सोते हुओं को प्रकाश दिलानेवाला। उर्दू में सत्य, स्वतः और सुत तीनों शब्द प्रायः एक सरीखे ही लिखे जाते हैं।

स्वतः प्रकाश की आत्म-सुधार की उन दिनों की प्रवृत्तियों से यह पता चलता है कि सत्यप्रकाश किस प्रकार सत्य के प्रकाश की खोज में निरन्तर लगा रहता था। आर्यसमाज में इस समय जिस पारिवारिक उपासना का प्रायः सर्वत्र प्रचार है; उसका शुभ

श्रीगणेश देवराज जी ने जालन्धर आर्यसमाज में अपने मन्त्रित्व-काल में दिया था और वहाँ मेही उसका प्रचार सर्वत्र आर्यसमाजों में हुआ। देवराज जी ने उसके प्रारम्भ करने का इतिहास अपनी डायरी और माता जी की जीवनी में दोनों जगह किया है। माता जी की जीविनी में दिये गये विवरण को नीचे दिया जाता है। इससे जहाँ पारिवारिक उपासना के वास्तविक स्वरूप और उद्देश्य का पता चलता है, वहाँ देवराज जी की भी आत्मसुधार की भावना एवं प्रवृत्ति का पूरा परिचय मिलता है। आप ने लिखा है कि "मेरे पड़दादा जटमल की ज़िन्दगी में हमारे घर पर रामायण या महाभारत की कथा अक्सर हुआ करती थी। उसके बाद मेरे दादा जमनादास के समय इस प्रथा में कमी हो गई। दादा जी को घर के काम-काज से फ़ुरसत नहीं मिलती था। इसके सिवा वे दानशील भी न थे। रुपये से उनका प्यार था। पिता जी आज़ाद ख्याल के थे और नौकरी के कारण उनका संग और ही प्रकार के मनुष्यों से था। वे रहते भी बाहर थे। इसलिये माता जी ही महीने में एक बार सत्यनारायण की कथा सुन लिया करती और जब कहीं कोई कथा होनी तो वहाँ भी अक्सर सुनने के लिये जाया करती थीं आर्यसमाज के प्रचार से इन कथाओं की प्रथा जाती रही। केवल कुछ देवियाँ अपने घरों में सत्संग लगवा गीता आदि की कथा व्याख्यान करती थीं। कथा बिठाने की प्रथा लोप हो गई थी।

"सर्वसाधारण के ख़्यालात बदल रहे थे। स्त्रियों की श्रद्धा

भी कथाओं पर से हट रही थी। आर्यसमाज ने ऐसी कथाओं के प्रति श्रद्धा को धक्का लगाया, किन्तु एक मकान गिरा कर भक्तिभाव के लिये झोंपड़ी भी तय्यार नहीं की। सूखी फ़िलासफ़ी स्त्रियों को कब अपनी ओर खींच सकती थी ? मैंने इस कमी को अनुभव किया। माता जी को मैं अच्छी-अच्छी कथायें सुनाया करता किन्तु बन्धेज कथा की प्रथा न होने से काम सरस नहीं होता था।

"एक बार मुझे लाहौर जाने का इत्तफ़ाक हुआ। लाला काशी-राम जी ब्रह्मसमाजी मेरे मित्र थे। मैं उनसे मिलने के लिये उनके घर पर गया। उस समय वे अपनी स्त्री और बाल-बच्चों के साथ पारिवारिक उपासना में लगे हुये थे। मुझे यह प्रथा बहुत पसन्द आई। जालन्धर लौटकर अपने घर में इस प्रथा को जारी करने का मैंने निश्चय किया। मेरा विचार सुनकर माता जी बहुत प्रसन्न हुईं। घर में साप्ताहिक सत्सङ्ग होने लगा और वह माता जी के अन्त समय तक जारी रहा।

"एक चौबारा उसके लिये नियत हो गया। उसका नाम हमने प्रार्थना-भवन रखा। इस कमरे को फूलों से सजाया जाता और धूप भी जलाई जाती थी। वीरवार (गुरुवार) की शाम को घर की सब देवियाँ इकट्ठी होकर भजन गाया करतीं और मैं उन्हें उपदेश दिया करता या कोई कथा सुनाया करता। माता जी के सप्रेम एवं भक्ति-पूर्ण भजनों से वह समय स्वर्गीय दृश्य के समान होजाता था। कभी कभी तो प्रेम और श्रद्धा से वह आँसू बहाते और हाथ घुमाती हुई मानों नाच रही होती थीं अपने आप को वे भूल जाती थीं।

"पहिले-पहल तो मैं और माता जी दोनों ही भजन गाया करते थे, पीछे से घर की सब स्त्रियाँ गाने में शामिल होने लगीं और शनैः शनैः परदे का रिवाज भी ढीला पड़ने लगा। कुछ काल बाद नगर की बहुत-सी देवियाँ इस पारिवारिक उपासना में शामिल होने लगीं और मुझे स्त्रियों में अपने ख्यालात के प्रचार का अच्छा मौका मिला। मुझे स्वयं इससे बड़ा लाभ हुआ। मुझे उत्तम बातों को ढूँढने के लिये स्वयं पुस्तकें पढ़नी पड़तीं और जहाँ से मैं कोई अच्छी बात सुनता था, कथा में उसे सुनाने का यत्न किया करता था

"दूसरों को रास्ता दिखलाने के लिये परिश्रम करने से पहिले मुझे अपने आप को भक्ति के चश्मे पर ले जाना पड़ता था। इससे मेरा बड़ा कल्याण हुआ। मेरी आत्मा उन्नत हुई और मैं माता जी के आशीर्वाद का पात्र बनने के लिये योग्य हुआ। मैं अपनी ज़िन्दगी के इस हिस्से को, जो कई बरसों तक रहा, सदैव बड़ी प्रसन्नता से याद किया करता हूँ। मेरा तजुरबा है कि स्त्रियों में ख्यालात की तबदीली के लिये, सभा-समाजों के लैक्चरों की अपेक्षा, पारिवारिक उपासना की विधि अधिक लाभदायक है। इससे घर सुधर जाते हैं और काम भी पक्का व मीठा होता है।"

दूसरों को रास्ता दिखलाने से पहिले स्वयं भक्ति के चश्मे पर जाने की आत्म-सुधार की भावना अथवा कोई प्रचार-प्रधान धर्म की दुहाई न देकर अपने को आचार-प्रधान-धर्म की

साधना में लगाने की प्रवृत्ति देवराज जी में बचपन में ही पैदा हो चुकी थी और वह जीवन भर में उनमें कायम रही। इसी का परिणाम था कि आपके जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता चला गया। साधारण-सी घटनाओं पर भी आप बहुत ध्यान देते थे और सदा अपनी कमी, कमज़ोरी या दोष का पता लगाने में लगे रहते थे। १८८४ के मार्च मास की घटना है। आप की सात्विक या धार्मिक प्रवृत्ति के कारण आप को आपके साथी या घर के लोग "शान्ति" नाम से पुकारा करते थे। इस से आप चिढ़ कर नाराज़ हो जाते थे। उसी साल की १४ मार्च की डायरी में लिखा है कि "रात को अज़ीज़ भक्तराम से कुछ तकरार हो गई। अफसोस मुझे बहुत गुस्सा आया। कसूर सरासर मेरा था। मुझे लोग 'शान्ति' नाम से पुकारते हैं। हे ईश्वर ! मुझ से यह खराब आदत छुड़ा।" १६ अप्रैल १८८६ की डायरी की पंक्तियों से पता चलता है कि आप किस प्रकार आत्म-सुधार के साथ-साथ आत्म-परीक्षा के कार्य में भी संलग्न रहा करते थे ? वे पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं। " आज हृदय में यह प्रश्न पैदा हुआ कि क्या मैं आर्यसमाज का काम दीन यानी धर्म—केवल धर्म के लिये करता हूँ या दुनिया की इज्ज़त के लिये ? इनमें कोई शक नहीं कि आज तक समाज का काम करने के समय दुनिया की इज्ज़त का कुछ-कुछ ख्याल भी मुझे लगा रहता है। लेकिन आगे से मैं केवल धर्म के लिये ही यह काम करूँगा। अभी अपने को बहुत सुधारना है। परमेश्वर सहायता

करने वाला है।" इसी प्रकार २८ फरवरी १९०१ की डायरी में लिखा हुआ है कि "भगतराम से आज मैंने अपने दोष पूछे। मालूम हुआ कि मुझ में किसी कदर अभिमान हो गया है। इस दुष्ट और पापी अभिमान को कुचलने की कोशिश करूँगा। हे ईश्वर! तू बल दे और मेरी आत्मा में शक्ति दे कि मैं निष्फल भाव से सब काम करूँ।"

ईश्वर पर आपका अगाध भरोसा था और आत्म-सुधार के लिए सदा उसी से बल, शक्ति और सहायता की भीख माँगा करते थे। १९ अप्रैल १८८७ की डायरी में लिखा है कि "ऐसा बद-किस्मत हूँ कि बाज़ दिन उपासना के समय दिल ऐसा अटक जाता है कि परमात्मा का सच्चा नाम लिया ही नहीं जाता। मुझे इस पर रोना आता है। इस समय जब कि लोग सोये हुये होते हैं, परमेश्वर का नाम लेना या कुछ और पाक काम करना अच्छा नहीं लगता। अफ़सोस!" फिर लिखा है कि "आज कल मैं विचार-शक्ति को बढ़ा रहा हूँ। आधी रात को अकस्मात् सवालात सोचा करता हूँ। परमात्मा की लीला दृष्टिगोचर करता हूँ।" जब कभी हृदय में उदासी छा जाती थी तो ईश्वर से प्रार्थना किया करते थे कि "हे परमेश्वर! आप मेरे मालिक, मेरे पैदा करने वाले हैं। मेरे सब काम आपके आधीन हैं। आप ही कल्याणकारी हैं। मुझे बल दीजिये, ताकि मैं सफल प्रयत्न होऊँ।"

कन्या-महाविद्यालय के संचालकों अथवा कार्यकर्ताओं में १९८८ के बाद कुछ वर्ष जो तीव्र मतभेद रहा और उसने जिस

गृह-कलह का रूप धारण कर लिया, उसका कुछ विवरण पीछे दिया जा चुका है। यहाँ यह दिखाने के लिये उसका निर्देश करना ज़रूरी है कि वैसे समय में आप ईश्वर पर कितना भरोसा रखते थे ? आपने स्वयं ही लिखा है कि "सन् १९०१–२ की बात है। विद्यालय का काम बिगड़ने के ख्याल ने मुझे चिन्तित कर रखा था। मैं दिन-रात इसी में हैरान रहता था। मैंने अपने दिल को बहुत समझाया कि परमेश्वर पर भरोसा रखना चाहिए, लेकिन दिल काबू में नहीं आता था। मेरी यह हालत बहुत दिनों तक रही। एक दिन मैं रोज़ की भाँति बहुत सवेरे उठ कर सैर को जा रहा था। तालाब के पास मुझे लकड़ियों का लदा हुआ गधा मिला। उस पर बैठा हुआ एक आदमी धीमी आवाज़ से 'वाह गुरु' 'वाह गुरु' का जाप कर रहा था। बड़ी भक्ति से ये शब्द उसके मुँह से निकल रहे थे। वह आदमी अपने जाप में मस्त था। उसके इन शब्दों ने मेरे दिल में घर कर लिया। में वहाँ निस्तब्ध हो मूर्ति की तरह खड़ा हो गया। उस श्रद्धालु किसान के जाप ने मेरे हृदय में सोई ईश-भक्ति को जगा दिया। मैं "वाह गुरु" का जाप करते हुये घर लौटा। दुनिया मुझे नये रूप में दीखने लगी। ईश्वर पर मेरा जो विश्वास धीमा पड़ गया था, वह फिर ज़ोर के साथ चमक पड़ा। मेरी सारी चिन्ता दूर हो गई।" ईश-विश्वास पर मानसिक कमज़ोरी का पड़ा हुआ परदा दूर हो गया।

इतने पर भी आप सब कुछ ईश्वर पर ही नहीं छोड़ देते थे। ईश्वर पर विश्वास रखते हुए आप आत्म-सुधार के लिये

किस प्रकार यत्नशील रहते थे, इसका पता "जलविद्-सखा" के सितम्बर १९३२ के अङ्क में वर्णन की गई एक साधारण-सी घटना से लगता है। आप को मुँह से सीटी बजाने का बहुत बुरा व्यसन था। चलते-फिरते-बैठते, लिखते-पढ़ते आप सदा ही सीटी बजाते रहते थे। इच्छा के बिना ही सीटी बजने लग जाती थी और आपको ध्यान भी नहीं रहता था कि सीटी बज रही है। एक दिन किसी से बातें करते हुए आप बाज़ार जा रहे थे वे सज्जन आप से अलग हुए कि सीटी बजानी शुरू हो गई। कुछ दूर आगे एक वेश्या जा रही थी। वह सीटी सुन, मुस्कराती हुई, आपकी तरफ़ झाँकने लगी। तब आपको पता चला कि एक साधारण व्यसन का भी कितना बुरा परिणाम हो सकता है? आप इतने लज्जित हुये कि मानों लाखों मन पानी आप के सिर पर पड़ गया हो। कन्या-महाविद्यालय के संचालक के नाते आपके लिये यह घटना असह्य हो गई। आपने सोचा कि देखने वाले क्या कहेंगे। मेरी कितनी निन्दा होगी? मुझे बदनाम करने के लिये इस बात का कितना बतंगड़ बनाया जा सकता है? कौन अपनी कन्या को मेरे पास भेजने के लिये मुझ पर विश्वास करेगा? इस विचारों में सराबोर आप तत्काल घर की ओर लौटे और पश्चात्ताप के आँसू बहाते हुए सीधे माँ के पास आये। माँ को सारी घटना कह सुनाई। माँ ने ढारस बँधाया और सीटी बजाने की आदत छोड़ने का उपदेश दिया। तब घर के सब आदमियों को आपने कह दिया कि जब भी कभी मुझे सीटी

बजाते सुनो, मेरे कान पकड़ कर मरोड़ दो। नौकरों से कहा गया कि जो इस बुरी आदत से मुझे सावधान करेगा, उसे प्रति बार एक आना इनाम मिलेगा। कुछ बार कान मरोड़े गये और लगभग दस आने जुरमाना भी देना पड़ा, लेकिन सीटी बजाने का असाध्य प्रतीत होने वाला व्यसन सदा के लिये छूट गया।

मई १८८८ की डायरी से भी पता चलता है कि आप आत्मसुधार के लिये किस प्रकार यत्नशील रहते थे। उस वर्ष की ८ मई से ११ जून तक की डायरी में लिखा है कि "ब्रह्मचर्य की साधना पूरी न होने से मुझे बहुत दुःख है। अधिकता सदा दुःख देती है।.........शाम को समाज में उपासना कराई। मैंने वेदी पर बैठते ही परमात्मा का नाम लिया और ऐसा शर्मिन्दा हुआ कि आगे एक भी शब्द न बोल सका और वेदी से उठ कर नीचे आ गया।.........अपने पापी होने पर अफसोस होता रहा। धर्म की अग्नि कुछ बुझ गई प्रतीत होती है। .... ब्रह्मचर्य की साधना पूर्ण न होने से मानसिक दुर्बलता रहती है और मन बहुत अशान्त रहता है। ईश्वर दया करें।" आत्मपरीक्षा का इससे अधिक उत्तम यत्न और क्या हो सकता है। इस यत्न में देवराज जी निरन्तर लगे रहे। इसी लिये आत्म-सुधार की इस प्रवृत्ति ने सचमुच ही देवराज जी को देव-पुरुष बना दिया और इसी से वह देवपुरुष आर्य-समाज में आचार-प्रधान धर्म की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हुआ।

पहिले १५-१६ वर्ष की आयु तक आपने माँस नहीं खाया

था, लेकिन छात्रावस्था के अन्धकारमय दिनों में शराब और मांस दोनों का सेवन शुरू हो गया था। शराब का व्यसन तो शीघ्र ही छूट गया, लेकिन मांस-भक्षण का परित्याग आपने २ अप्रैल १८८५ को तब किया, जब यह पता चला कि वह आर्यसमाज के मन्तव्य के विरुद्ध है। बाल-विवाह आदि के तो आप बहुत शुरू में ही विरोधी हो गये थे।

आर्यसमाज में आपने जिस सात्विक और पवित्र भावना से प्रवेश किया था, उसका पता १८८३ की ८ मार्च की डायरी से लगता है। उसमें लिखा है कि "अजीज़ भक्तराम का पत्र आया। अफ़सोस ? वे लिखते हैं कि आर्यसमाज डावाँडोल हो रहा है। कितने दुःख की बात है कि लोग अपनी भलाई का भी कुछ विचार नहीं करते। मेरा यह समाज चन्दा-मज़हबी नहीं है। मेरा असली उद्देश्य मुल्की हमदर्दी और क़ौमी भलाई था। ए मेरे प्यारे मुल्क ! तेरी हालत कब सुधरेगी ?" महाशय सत्यप्रकाश की वह भावना आर्यसमाज में प्रवेश करने के बाद भी वैसी कायम थी, जिसकी वजह से छात्रावस्था में उसका नाम उसके साथियों ने मि० लिबर्टी रखा था। उन दिनों में आपके व्याख्यान भी ऐसे ही विषयों पर हुआ करते थे। जालन्धर आर्यसमाज में आपने पहिला व्याख्यान "आर्यसमाज में क़ौमियत और आर्यसमाज का मुद्दा" विषय पर दिया था।

जालन्धर-आर्यसमाज की स्थापना का ही नहीं, किन्तु उसके निर्माण का अथ से इति तक सारा श्रेय देवराज जी को ही

है। कहा यह जाता है कि पारिवारिक उपासना के समान आपने घर में एक क्लब कायम किया हुआ था। आपकी प्रायः सारी मित्र-मण्डली उसमें शामिल थी। उसके अधिवेशनों में बड़े गम्भीर भाव से आप समाज-सुधार-सम्बन्धी उन विषयों की चर्चा किया करते थे, जिनको तब फ़िजूल कहा जाता था और अब जिनके प्रचार के लिए बड़ी-बड़ी संस्थायें कायम हैं। आपकी गम्भीरता का आपके सब साथी मज़ाक किया करते थे। अपने ही बनाये हुये भजन जब आप गाया करते थे, तब क्लब का कमरा हँसी से गूँज उठता था। एक बार आपके बड़े भाई बालकराम और बहनोई मुन्शीराम क्लब का चन्दा लेकर जालन्धर छावनी चले गये। वहाँ गुलछर्रे उड़ाने में सारा पैसा खर्च कर आये। साथियों के हँसी-मज़ाक और उच्छृंखलता पर भी आप अधीर नहीं हुये। दत्तचित्त होकर आप उसके संचालन में लगे रहे। आप ही उसके संस्थापक, संचालक, संयोजक, उपदेशक, भजनीक और चपरासी तक सब कुछ थे। कालान्तर में १ जनवरी १८८३ को, यह क्लब आर्यसमाज बन गया और आप उसका काम भी उसी प्रकार करते रहे, जैसे कि क्लब का करते थे। आर्यसमाज का इस समय जहां मन्दिर बना हुआ है, यह स्थान समाज को कुछ समय बाद मिला। पहिले मुरलीमल की धर्मशाला में और फिर कपूरथले के वकीलखाने के सामने जगह ली गई। जालन्धर आर्यसमाज का पहिला उत्सव इसी स्थान पर १८८७ में हुआ था। उस समय से ही आर्यसमाज के लिए अपने स्थान की कोशिश की जाने लगी थी। देवराज जी ने १८८६ के

शुरू में ही इसके लिये आन्दोलन आरम्भ कर दिया था। उस वर्ष की १६ जनवरी की डायरी में लिखा है कि "मेरी राय में समाज का जब तक अपना मकान न होगा, कोई काम न हो सकेगा। आज कल चुपचाप मैं इसी के लिये आन्दोलन कर रहा हूँ।" फिर २४ जनवरी को लिखा है कि "मुबारिक है कि आज लाला जी ने खुद अपने मुँह से कहा कि आर्यसमाज में जाया करो। आज मैंने समाज में 'कबोलदारी और हमारी ज़रूरत' विषय पर व्याख्यान दिया। व्याख्यान में कामयाबी हुई। मेरे व्याख्यान का मक़सद था कि आर्यसमाज का अपना मन्दिर बनवाना चाहिए और इसमें हर एक को मदद देनी चाहिए।" आपका यह स्वप्न १८८८ में पूरा हुआ। उस वर्ष ८ जनवरी को समाज-मन्दिर की आधार-शिला रखी गई। हवन हुआ। देवराज जी ने उपासना कराई और मुन्शीराम जी ने भाषण दिया। १६ जनवरी की डायरी में लिखा है कि "लाला मुन्शीराम, लाला काशीराम, मास्टर हीरासिंह, लाला नगीनामल, मास्टर रामजीदास और मास्टर मुश्ताकराय आदि ने अपने सिरों पर ईटें उठा कर रखीं। समाज का मकान बन रहा है।" यह थी श्रद्धा, लगन और तत्परता, जिसने आर्यसमाज को थोड़े ही समय में इतना शक्ति-सम्पन्न और सफल मनोरथ बनाया था।

देवराज जी ने अपनी शक्ति और सामर्थ्य केवल समाज का मकान बनाने में ही नहीं लगाई, लेकिन आर्य पुरुषों को स्वाध्यायशील बनाकर उनके जीवन को उन्नत बनाने में भी आपने अपनी शक्ति

को विशेष रूप में लगाया। १८८६ की १७ अप्रैल की डायरी में लिखा है कि "समाज की बहुत चर्चा है। परमेश्वर को कृपा चाहिये। धन्य भाग है कि लोग इतना तो कहते हैं कि जो समाज में बड़ा आदमी कोई नहीं, लेकिन इनके चाल-चलन बहुत उमदा हैं।" फिर इसी वर्ष की ११ जुलाई की डायरी में लिखा है कि "शाम को समाज में मूर्ति-पूजा पर व्याख्यान दिया। लाला लक्ष्मीसहाय जी से मिला। दो चार आदमी वहाँ और बैठे थे। समाज की चर्चा शुरु हुई। सब तरह की बातें शुरु हुईं। अन्त में यह बात हुई कि आर्यसमाजी सन्ध्या नहीं करते। इसमें सन्देह नहीं कि यह आक्षेप बिलकुल सच है। अब हमारी कोशिश इस बात पर लगाई जायगी कि लोग सन्ध्या किया करें।" केवल सन्ध्या कराने की ही कोशिश नहीं की गई, लेकिन आर्य-पुरुषों को आर्य-सिद्धान्तों से खूब परिचित कराने का यत्न किया गया। उनमें स्वाध्याय के लिये प्रेम और प्रवृत्ति पैदा की गई। प्रति दिन समाज में इकट्ठे हो कर सन्ध्यादि नित्य कर्म करने का नियम बनाया गया। साथ में धर्म-चर्चा भी होती और पारस्परिक शंकाओं की निवृत्ति होकर प्रचार के साधनों पर भी विचार किया जाता। सब काम नियम से होने लगा। मुन्शीराम जी और देवराज जी स्वाध्यायशील आर्य-सभासदों के घर पर जाकर उसको स्वाध्याय में मदद दिया करते थे। जिस पारिवारिक उपासना का पीछे उल्लेख दिया गया है, उसका उपक्रम भी समाज में शुरू किया गया। प्रति मंगलवार को सब सभासद किसी के घर में इकट्ठे होते। वहाँ

प्रार्थना-उपासना और धर्मोपदेश होता। घरके अलावा मुहल्ले के स्त्री-पुरुष भी उसमें सम्मिलित होते। आर्यों और मुहल्ले के लोगों पर भी उसका विशेष प्रभाव पड़ता था। उन्हीं दिनों में देवराज जी ने संस्कृत का अध्ययन किया था। भर्तृहरि के ग्रन्थों से संस्कृत का अध्ययन शुरू करके स्वामी दयानन्द-कृत वैदिक-ग्रन्थों का भी मनन एवं अनुशीलन शुरू कर दिया था। 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' का आपने विशेष रूप से अध्ययन एवं स्वाध्याय किया।

जालन्धर-आर्यसमाज के सदस्यों में स्वावलम्बन की भावना पैदा करने वाली कुछ घटनाएँ भी उन दिनों में घट गईं और स्वावलम्बन की उस भावना से भी उनमें दृढ़ आर्य बनने के लिये स्वाध्याय करने की प्रवृत्ति पैदा हुई। आर्यसमाजों के सारे कार्य का केन्द्र उन दिनों में लाहौर था। समाजों के पास इतने पण्डित उपदेशक या भजनीक नहीं थे। इस लिये उनकी ज़रूरत लाहौर से ही पूरी होती थी। लाहौर की प्रतिनिधि-सभा का आदेश था कि उसकी आज्ञा एवं अनुमति के बिना कोई भी समाज शास्त्रार्थ एवं उत्सव की योजना नहीं करे। अमृतसर के पण्डित श्यामदास ने १८८७ में जालन्धर में आकर अनाप-शनाप बकना शुरु किया हुआ था। उसने आर्यसमाज को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। "मूर्तिपूजा और अवतारवाद" पर शास्त्रार्थ होना तय हो गया। लाहौर से सहायता माँगी गई, वहाँ से टका-सा यह जवाब मिला कि "छोटे-छोटे आर्य-समाजों को हमारी आज्ञा के बिना

शास्त्रार्थ नहीं रच लेने चाहियें। यदि साहस नहीं था, तो शास्त्रार्थ की डींग ही क्यों मारी थी ?" जालन्धर-आर्यसमाज ने अपनी हिम्मत पर शास्त्रार्थ किया। इसी प्रकार आर्यसमाज के पहिले और दूसरे उत्सवों के लिये लाहौर से उपदेशक एवं भजनीक नहीं मिले। पहिले उत्सव पर तो परिडत गुरुदत्त जी आगये थे, लेकिन दूसरे पर कोई भी नहीं आया था। देवराज जी, भक्तराम जी और मुन्शीराम जी के ही भजनों, उपदेशों एवं व्याख्यानों की जलसे में धूम रही थी। इस स्वावलम्बन से पैदा हुई स्वाध्याय की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि जालन्धर-आर्यसमाज आस-पास के समाजों के लिये केन्द्र बन गया। आस-पास के ज़िलों की समाजें जालन्धर से सहायता की अपेक्षा रखने लगीं। लाहौर-आर्यसमाज के उत्सव में सम्मिलित होने के लिये लाला मुन्शीराम जी और लाला देवराज जी के नेतृत्व में जाने वाली मण्डली की धूम रहती थी। वे उतारे के स्थान से समाज-मन्दिर तक रोज़ ही कीर्तन करते हुये जाया करते थे। पं० पूर्णानन्दजी सरीखे महामहोपदेशक आर्यसमाज को जालन्धर-आर्यसमाज ने ही दिये थे। आर्य-समाज में 'उपदेशक-विद्यालय' की स्थापना करने की दृष्टि से एक पाठशाला भी खोली गई थी। फिर 'दुआबा उपदेशक-मण्डली कायम की गई, जो कुछ दिन बाद "दुआबा-गुरुदासपुर उपप्रति-निधि' के रूप में परिणत हो गई।

इस प्रकार जालन्धर शहर में ही नहीं, किन्तु समस्त दुआबा में और दुआबा के बाहर के ज़िलों में भी जालन्धर आर्य-समाज

ने प्रचार का काम किया। १८८६-८७ में पण्डित श्यामदास को पछाड़ने और व्याख्यान वाचस्पति पण्डित दीनदयालु जी के साथ टक्कर लेने से शहर में आर्यसमाज की ख़ूब धाक जम गई। समाज के साप्ताहिक अधिवेशन और त्योहारों पर विशेष अधिवेशन भी ख़ूब धूमधाम से होने लगे। मुन्शीराम जी और देवराज जी के ही प्रायः साप्ताहिक अधिवेशनों पर भाषण हुआ करते थे। सवेरे और रात्रि का कीर्तन भी खूब उत्साह से हुआ करता था। देवराज जी के नेतृत्व में आर्य-सदस्यों की एक टोली शहर में नित्य प्रति भजन गाती हुई सवेरे-शाम निकला करती थी। बाज़ार में प्रचार भी हुआ करता था। उत्सवों की बहुत ही अधिक धूम रहती थी। त्योहारों पर भी खूब प्रचार होता था। १८८६ की रामलीला पर आर्य-समाज ने विशेष रूप से प्रचार किया था। समाज-मन्दिर से बाहर सार्वजनिक रूप में प्रचार करने का यह पहिला मौका था। ईसाइयों को बराबरी में खेमे गाड़े गये थे। आर्य-समाजियों ने अपने हाथों से खेमे आदि खड़े करने का सब काम किया था। बड़े-बड़े घरों के लड़कों को इस प्रकार धर्म-सेवा में लगे हुये देख कर सर्वसाधारण पर बहुत गहरा असर पड़ा। देवराज जी इस वर्ष की ४ अक्टूबर को डायरी में लिखते हैं कि "आज यह पहिला दिन है कि मैंने दसहरे के मेले में खड़े होकर सरे आम उपदेश दिया। अहोभाग है कि झिझक खुली। अन्य आर्य पुरुषों के भी भाषण हुये। हमारे पास ही ईसाइयों का खेमा है। वे हमसे बहुत चिढ़ते हैं। ईसाइयों की बहुत

हानि हुई। हमारी तरफ़ लोगों की अधिक भीड़ होती है।" ५ अक्टूबर को लिखा है कि "मेले में फिर उपदेश दिया। लाला जी ने इस पर खुशी जाहिर की। आज जीव-रक्षा पर भाषण था। लोग आर्यसमाज को बहुत पसंद करने लगे हैं।" ६ अक्टूबर को लिखा है कि "फिर मेले में उपदेश दिया। लाला जी ने भी उपदेश सुना। आज ईसाइयों को ओर बहुत ही कम आदमी थे।" ८ अक्टूबर को लिखी हुई पंक्तियाँ ये हैं कि "आज शाम को बड़ा आनन्द आया। रामलीला आने में देर थी इस लिये लोग उपदेश सुनने के लिये हमारे खेमे में आकर जमा हो गये। आज पादरी साहेबान उपदेश देने आये नहीं" इस प्रचार का क्या प्रभाव हुआ, इस सम्बन्ध में आपकी डायरी में लिखा हुआ है कि "इस का बहुत .फायदा हुआ। बहुत से लोग आर्यसमाज से परिचित हो गये। चूंकि जीव-रक्षा पर बहुत कुछ कहा गया था, इस लिये जैनी आर्यसमाज से बहुत .खुश हुये। दूसरे बहुत से लोग नाराज़ भी हुये।"

आस-पास की बस्तियों में लाला देवराज जी ने आर्यसमाज का प्रचार खूब ज़ोर-शोर से शुरू किया था। सच तो यह है कि वे चलती-फिरती एक आर्यसमाज थे। 'मिशनरी' शब्द उन पर सोलह आना ठीक बैठता था। जब तक आपने अपने को विद्यालय के काम में नहीं लगाया, तब तक चौबीसों घण्टे आप पर समाज की ही धुन सवार रहती थी। आप अपने ही सरीखे लगन वाले व्यक्ति थे। १८८६ की १६ अक्टूबर को डायरी में

लिखा है कि "अनाज मण्डी में 'आर्यसमाज क्या करता है' विषय पर व्याख्यान दिया। मुझे बड़ा जोश आया। नतीजा अच्छा निकला। परमेश्वर का धन्यवाद है कि किसी ने विरोध नहीं किया। पौराणिक पण्डितों ने भी माना कि दरहकीकत आर्यसमाज हमारे सनातनधर्म को मानने वाला है। लोगों में विशेष श्रद्धा पाई जाती है।" १८८७ में आस-पास की बस्तियों में प्रचार का सिलसिला शुरू हुआ।

लाहौर में "दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज" का सिलसिला और जरायम पेशा जातियों की ओर भी आर्यसमाज का ध्यान आकर्षित हो चुका था। देवराज जी ने कालेज के लिये खूब लगकर काम किया। २८ अक्तूबर १८८७ को आप जंगरावाँ आर्यसमाज के उत्सव पर गये। वहाँ ब्राह्मणों ने यह व्यवस्था दी हुई थी कि "जो कोई समाज में जायगा उसका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जायगा।" इस पर भी वहाँ आपके भाषणों में अच्छी भीड़ हुई। जब आप ने कालेज के लिये चन्दे की बात की, तो आर्यसमाज के सदस्यों ने निराशा बताई और कहा कि यदि किसी ने ज़ाहिर तौर पर चन्दा दिया तो यहाँ तहलका मच जायगा। पौराणिक ब्राह्मणों से लोग बहुत भयभीत थे। आपके समझाने-बुझाने पर यह तय हुआ कि चन्दे के लिये कहा जाय, पर किसी से मांगा न जाय। आपने अपने व्याख्यान में इस विषय की चर्चा की। इतना मार्मिक भाषण हुआ कि लोग रो दिये। जहाँ एक दमड़ी मिलने की उम्मीद नहीं थी, वहाँ २०० रु० चन्दा जमा हो गया। पण्डितों

ने विरोध तो किया, लेकिन उस विरोध से आर्यसमाज को बल मिला। जगरावां में आर्यसमाज की स्थिति बहुत मज़बूत हो गई। उसके सभासदों की संख्या में भी वृद्धि हुई।

इस वर्ष के अन्तिम मास में १५ दिनों का आपने प्रचार के लिये विस्तृत दौरा किया। पहिले जगरावाँ गये। वहाँ से थाड़ा पहुँचे। थाड़ा में पण्डितों का इतना आतंक था कि कोई व्याख्यान का प्रबन्ध करने को तय्यार न था। सवेरे अँधेरे में चौकी आदि रखी गई। दिन निकलने पर आपने वहाँ जा कर व्याख्यान दिया वहाँ से अरवाना और अकोवाल होते हुये महदपुर पहुँचे। यहाँ कोई भी परिचित न था। कह-सुन कर किसी तरह व्याख्यान का प्रबन्ध कराया। वहाँ से नूरमहल नकोदर गये। नकोदर में एक दिन में दो व्याख्यान दिये। रात को लोगों के साथ धर्म-चर्चा हुई। वहाँ से जहाँगीर खोसा गये और नकोदर होते हुए १७ दिन बाद जालन्धर वापिस आये। प्रायः सब जगह बाज़ारों में खड़े हो कर व्याख्यान और शंका-समाधान भी किया। जालन्धर के आस-पास ऐसे दौरे आपने कई बार किये थे।

१८८८ में आपने अपने को आर्यसमाज के प्रचार के साथ बिलकुल तन्मय कर दिया था। कभी किसी बरात में जाते थे, तो वहाँ भी आपका प्रचार जारी रहता था और वहाँ के या रास्ते में पड़ने वाले समाजों में धर्मोपदेश करने का अवसर आप नहीं चूकते थे। आर्य-पुरुषों के घरेलू संस्कारों पर काफ़ी तूफान पैदा हो जाता था। आर्य-पुरुष वैदिक-विधि से संस्कार करने की इच्छा प्रगट

करते थे कि सारी बिरादरी विरोध में खड़ी हो जाती। बिरादरी के विरोध में बड़े-बड़े धीर-वीर महारथी भी हिम्मत हार जाते थे। इसलिये आर्य-सदस्य एक दूसरे को हिम्मत बँधाने में सारी ताकत लगा देते थे। लाला नगीनामल जी जालन्धर-आर्यसमाज के बड़े दृढ़ सदस्य थे। उन्होंने अपने पिता का मृतक-संस्कार वैदिक-विधि से किया। लाहौर की बिरादरी बिगड़ खड़ी हुई। रात की दो बजे की गाड़ी से आप लाहौर पहुँचे। नगीनामल जी को हौसला बँधाया। शाम को ४ बजे उनको जाति से खारिज करने की व्यवस्था देने के लिये बिरादरी जमा होने को थी। नगीनामल जी की ओर से बिछाई गई दरियों पर भी बिरादरी वाले नहीं बैठे आर्यसमाजी काफी संख्या में इकट्ठे हुए। कोई २५० का मजमा जमा हो गया। बिरादरी वालों को समझाने का सारा यत्न बेकार गया। ठीक छः बजे बिरादरी से निराश होकर देवराज जी ने अपना कार्य-क्रम शुरू किया। पहिले आपने वेद-पाठ किया। फिर उपासना कराई। काली बाबू ने भी उपासना कराई। उसके बाद नगीनामल जी को एक पगड़ी जालन्धर-आर्यसमाज की ओर से दी गई और एक भक्तराम जी ने अपनी ओर से दी। बस, न मालूम बिरादरी वालों पर क्या जादू का-सा असर हुआ? नगीना-मल जी को अपने निश्चय पर अटल देखकर बिरादरी वाले हिम्मत हार गये। तुरन्त बिरादरी की ओर से दस्तूर के कपड़े पहुँचा दिये गये। प्रार्थना-उपासना और वेद-पाठ के समय तो वे उन्हीं दरियों पर आ बैठे थे, जिन पर आर्यसमाजी बैठे हुए थे।

देवराज जी ने इस घटना पर अपनी डायरी में लिखा है कि "परमात्मा ने हमारी बहुत सहायता की। हमारी पत रह गई। लाहौर समाज पर जालन्धर-समाज की इस कार्यवाही का बहुत असर पड़ा।" यह ९ मार्च १८८८ की घटना थी।

२५ अगस्त को इसी वर्ष कपूरथला में भी ऐसी ही एक घटना और घटी कपूरथला पर जालन्धर के आर्यसमाजियों ने मुन्शीराम जी और देवराज जी के नेतृत्व में पहिले ही धावे बोलने शुरू कर दिये थे वहाँ एक-दो शास्त्रार्थ भी हो गए थे। कपूरथला के उस समय के एकाउटेण्ट-जनरल अच्छरूमल मिश्र के विरोध ने आर्य-समाजियों के उत्साह को चुनौती दे डाली थी। इसलिए भी उनको कपूरथला पर विशेष ध्यान देना पड़ा। वह घटना जिसका यहाँ उल्लेख करना ज़रूरी है, यह थी कि वहाँ के आर्य-सभासद् गोविन्दसहाय जी पटवारी की माता का देहान्त हो गया था। वे वैदिक-विधि से अन्त्येष्टि-संस्कार कराना चाहते थे। जालन्धर समाज से सहायता माँगी गई। शहर और छावनी से आर्यसदस्य वहाँ पहुँचे। मुन्शीराम जी और देवराज जी भी गये। आर्य-पुरुषों की मण्डली भजन गाती हुई बाज़ार से गुज़री करीब २० के लगभग की मण्डली थी। विधि-पूर्वक सब संस्कार कराया गया। श्मशान-भूमि में देवराज जी का धर्मोपदेश हुआ। जनता पर इसका बहुत असर पड़ा। कई लोग समाज के सभासद् बने। देवराज जी गोविन्दसहाय के पुरुषार्थ और दृढ़ता के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि यदि कपूरथला

में वेदोक्त विधि से दाह-संस्कार न हो सका तो, माता जी के शव को जालन्धर ले जाऊँगा। वहाँ भी न हो सका, तो कहीं और ले जाऊँगा। पर, कराऊँगा वैदिक संस्कार।" इसे कट्टरता या अन्ध-विश्वास कहा जा सकता है, लेकिन उस सम
दृढ़ता और सुख-दुःख में एक बिरादरी के समान साथ देने की उनकी भावना का भी परिचय मिलता है।

१८८८ के नवम्बर मास में आप नकोदर, स्यालकोट और सैदपुर आदि धर्म-प्रचार के लिए गए। तीनों स्थानों पर आपके ख़ूब व्याख्यान हुए। पौराणिक पण्डित भी बड़े प्रेम से व्याख्यान सुनने आते थे। स्यालकोट में तो मौलवी शाह मुहम्मद साहब ने व्याख्यान का प्रबन्ध कराया था, जिसमें बस्ती के सब रईस व अमीर उपस्थित हुए थे। गलियों और जङ्गल में छोटे बच्चों के मुँह से 'नमस्ते' सुनकर आपको बड़ी ख़ुशी हुई। आपने समझा कि आपका यत्न सफल हो रहा है।

१८८८ में भी दसहरे के मेले में प्रचार किया, जिसे पिता जी ने पसन्द नहीं किया। साथ ही बाज़ार में भी प्रचार का क्रम शुरू कर दिया गया था। प्रभात-फेरी और रात्रि के कीर्तन का क्रम भी ज़ोरों पर था। भूत-चुड़ेल, श्राद्ध, मूर्तिपूजा, पुराण आदि का ख़ूब खण्डन होता था। मुकाबले में धर्म-सभा भी बन गई थी। इसलिये संघर्ष ज़ोरों पर था। कोई बस न देख कर पिता जी पर देवराज जी के विरुद्ध धर्म-सभा वालों ने ज़ोर डाला। कहाँ तो १८८६-८७ में यह हाल था कि पिता जी स्वयं दसहरे पर होने वाले प्रचार में

शामिल हुये थे और २६ नवम्बर १८८६ की डायरी के अनुसार देवराज जी की यह धारणा थी कि "अब लाला जी बिलकुल राज़ी हैं। मेरे काम से खुश मालूम होते हैं। सच तो यह है कि लालाजी के खुश होने से ऐसी खुशी होती है, जो किसी राजा-महाराजा के खुश होने से भी न हो।"—वहाँ १८८६ के शुरु में पिताजी ने यह लिखा कि "चूंकि शहर के लोग तुम्हारे प्रचार को नापसन्द करते हैं और तुम प्रचार करना अपना धर्म समझते हो, मैं तुम्हें प्रचार करने से बन्द नहीं करता। हाँ, यह चाहता हूँ कि इस शहर में न करो।" इसका जो परिणाम हुआ, पाठक पीछे देख आये हैं। पर, उस संघर्ष में भी देवराज जी की विजय हुई और उस विजय-लाभ के बाद निर्भय हो कर आप प्रचार-कार्य में दुगने उत्साह के साथ तन्मय हो गये। ११ मई १८८६ को लुधियाना से तार आया कि वहाँ ३० विद्यार्थी ईसाई हो रहे हैं। आप मुन्शीराम जी के साथ वहाँ गये। वहाँ आप दोनों के दो-दो व्याख्यान हुये। विद्यार्थियों ने ईसाई होने का विचार त्याग दिया। इसी वर्ष २८ मई को लाला रोशनलाल की मृत्यु पर जालन्धर में पहिला वैदिक संस्कार उनकी अन्त्येष्टि का हुआ, जिसमें सब आर्यसमाजी शामिल हुये।

१८८६ के दिसम्बर मास की ३-४ तारीख को मण्डी के राजा श्री विजयमोहन सिंह जी ने आर्यसमाज और धर्म-सभा दोनों को जालन्धर में धर्म-चर्चा के लिये निमन्त्रित किया, जिसने शास्त्रार्थ का रूप धारण कर लिया। आर्यसमाज की ओर से मुन्शीरामजी,

देवराज जी और पूर्णानन्द जी उपस्थित हुये थे। दूसरे दिन पं० मनीराम जी भी जो बाद में आर्यमुनि के नाम से प्रसिद्ध हुये, आ गये थे। पं० श्रीकृष्ण शास्त्री के साथ शास्त्रार्थ हुआ। राजा साहब और शहर की जनता पर खूब अच्छा असर पड़ा। देवराज जी ने समाज की ओर से राजा साहब को सत्यार्थप्रकाश, ऋगवेदादिभाष्यभूमिका, आर्याभिविनय, पंचमहायज्ञविधि, समाज के नियम और गायत्री-मन्त्र आदि भेंट किये।

स्त्री-समाज की भी स्थापना हो चुकी थी। देवराज जी पुरुष-समाज के समान इसमें भी प्रार्थना-उपासना कराते और व्याख्यान दिया करते थे। स्त्रियों के पठन-पाठन पर आप विशेष ज़ोर दिया करते थे। अपने व्यक्तिगत जीवन और घर से ही समाज-सुधार का काम शुरु करने की पुरानी प्रकृति के कारण आपने गृहदेवी श्रीमती टहलदेवी जी को पढ़ा-लिखा कर इतना होशियार कर लिया कि उन्होंने वैसे ही स्त्री-समाज का काम सम्भाल लिया था, जैसे आपने पुरुष-समाज का सम्भाला हुआ था। १८६० में आपने मेरठ, दिल्ली, अजमेर एवं बम्बई का भी दौरा किया था और सभी जगह आर्यसमाज की गति-विधि का अध्ययन कर धर्म-प्रचार का भी काम किया था। राजपूताना का भी आपने दौरा किया समाज के उत्सवों पर दूर दूर जाना शुरु कर दिया। पर जाते थे सब जगह पिता जी की आज्ञा ले कर। एक बार डेराइस्माइल खाँ जाना था। पिता जी गाँव गये हुये थे। तब गाँव उनकी आज्ञा प्राप्त

करने के लिये गये। बीमारी में भी प्रचार की धुन सवार रहती थी। पहिले दलितोद्धार और नव-मुस्लिमों की शुद्धि का काम भी आर्य-समाज ने शुरु कर दिया था। आपने भी अपने को उस काम में लगा दिया। जहाँ कहीं किसी हिन्दू के ईसाई या मुसलमान होने की बात सुनते, दौड़े चले जाते और उसको धर्मान्तर करने से रोकने में सारी शक्ति लगा देते थे। बहुत युक्ति और प्रेम से उसे समझाते थे। आपकी ही प्रेरणा और प्रयत्न से आर्य-समाज ने अपने कुये पर से हरिजनों के पानी भरने का प्रस्ताव पास किया था, जिस पर जालन्धर में तूफ़ान मच गया था। उसी पर आर्यसमाजियों का हुक्का-पानी बन्द कर सामाजिक बहिष्कार करने का अन्दोलन शुरू हुआ था। हरिजनों और शुद्ध हुये लोगों को नगर-कीर्तन में शामिल करने या उनको अपनी दरियों पर बिठाने में जब लोग आपत्ति करते थे, तब उन्हें युक्ति और प्रमाण से समझाते थे। आर्य-सिद्धान्तों पर स्वयं आचरण कर दूसरों को भी, उन पर आचरण करने के लिये प्रेरित करते थे। चिरञ्जीव गन्धर्व की सगाई बहुत छोटी अवस्था में, करीब ७-८ वर्ष की आयु में कर दी गई थी। उसको आपने मंसूख करा दिया और रिश्तेदारों के आग्रह पर भी उसका विवाह बाल्यावस्था में नहीं किया। स्वर्गीय बोधराज का विवाह केवल इस लिये नहीं किया कि उसका दिमाग़ बिगड़ गया था। आप उसे विवाह का अधिकारी नहीं मानते थे। पुत्री गार्गी को १७ वर्ष ४ महीने की आयु तक

आप बराबर पढ़ाते रहे। उसका विवाह उस आयु में भी नहीं किया था। तब अकस्मात् उसका देहावसान हो गया।

इस प्रकार लग-भग १५-१६ वर्ष आप आर्य-समाज के मन्त्री रहे। किसी भी संस्था के मन्त्री के लिये उसकी आर्थिक स्थिति सँभालना बहुत बड़ा काम होता है। इस दिशा में भी आपकी दूर की सूझ और अनोखी कल्पना ने चमत्कार कर दिखाया। १८८६ में समाज के करीब ६० सभासद् थे। १५ महिलायें स्त्री-आर्यसमाज की सभासद् थीं और करीब २५० रु० महीने की आमदनी थी। प्रचार का काम इतना बढ़ा था कि इस आमदनी पर काम चलाना कठिन था देवराज जी वेद-प्रचार पर बहुत ज़ोर देते थे। आर्य-प्रतिनिधि-सभा का वेद-प्रचार-फ़ण्ड तो बहुत वर्षों बाद स्थापित हुआ, लेकिन देवराज जी ने जालन्धर-समाज में प्रचार-निधि की स्थापना १८६० में ही कर दी थी। उसी के लिये आपने 'चारी सिस्टम' के नाम से 'आटा फ़ण्ड' और बाद में 'रद्दी फ़ण्ड' कायम किया था। प्रत्येक आर्यसभासद् के घर में एक घड़ा इस लिये रख दिया गया कि वे प्रतिदिन उसमें एक मुट्ठी आटा आर्यसमाज के लिये डाल दिया करें। समाज का चपरासी जाता और सारा आटा जमा कर लाया करता था। इसी प्रकार आर्यसमाजों से यह प्रार्थना की गई थी कि वे अपने यहाँ की रद्दी ख़राब न किया करें और संभाल कर आर्यसमाज के लिये रख दिया करें। उसको भी समाज का चपरासी इकट्ठा कर लाया करता था। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने

'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से लिखी गई आत्मकथा में लिखा है कि "रद्दी को बेचकर जमा किये गये फ़ण्ड से आर्यसमाज के वाचनालय और पुस्तकालय का खर्च पूरा किया जाता था।" ऐसी आयोजनाओं को बचाने में देवराज जी का उपजाउ दिमाग़ बहुत काम दिया करता था। "रद्दी-फ़ण्ड" ११ जनवरी १८९२ को कायम किया गया था।

देवराज जी की इस लगन और धुन का ही यह परिणाम हुआ कि जालन्धर आर्यसमाज की दृष्टि से एक बड़ा केन्द्र बन गया। कहने को समाज का केन्द्र लाहौर था, लेकिन जीवन के वास्तविक स्रोत का केन्द्र-स्थान जालन्धर था। देहातों में प्रचार का सिलसिला भी जालन्धर से ही शुरु हुआ था। चेतना, स्फूर्ति और जागृति की जो लहर उन दिनों में आर्यसमाज के रूप में पंजाब में फैल रही थी, उसका उद्गम-स्थान जालन्धर था। अभी तक समाज में ब्राह्मणकुलोत्पन्न पण्डितों का जोर था। वे ही शास्त्रार्थ आदि किया करते थे। जालन्धर आर्यसमाज ने इस परिपाटी को मिटा दिया और यह दिखा दिया कि हर एक आर्य-सभासद् उपदेशक का काम कर सकता है। १८९२-९३ में आर्यसमाज में जो गृह-कलह पैदा हुई, उससे देवराजजी को बहुत दुःख हुआ। आपने समझौता कराने का अन्त तक यत्न किया और जब सफल नहीं हुये तो कृष्ण के समान मुन्शीराम जी को अर्जुन बना कर आपने शान्तभाव से केवल सारथी का काम किया। मालूम होता है कि इस गृह-कलह, विशेषकर अपने साथियों में पैदा हुई कलह के कारण

ही आपके हृदयमें आर्यसमाजके कामसे कुछ उपराम पैदा हुआ और आपने अपने को सर्वतोभावेन स्त्री-शिक्षा के काम में लगा दिया। आर्यसमाज के प्रचार से आपने जालन्धर को जो गौरव प्राप्त कराया था, उसमें कन्या-महाविद्यालय की स्थापना करके आपने दो मास और लगा दिये। जालन्धर स्त्री-शिक्षा के प्रेमियों के लिये एक तीर्थ बन गया। दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज से लाहौर को जो गौरव मिला था, उससे कहीं अधिक गौरव जालन्धर को कन्या-महाविद्यालय से प्राप्त हुआ। कन्या-महाविद्यालय स्त्री-शिक्षा का केन्द्र होने के साथ-साथ आर्यसमाज के प्रचार का भी केन्द्र बन गया। प्रचार का नियमित काम करने वाली महिला उपदेशिकायें अब तक भी आर्यसमाज के पास नहीं हैं, लेकिन कन्या-महाविद्यालय की अध्यापिकाओं और कन्याओं ने इस अभाव की पूर्ति की और न केवल आर्यसमाज या पञ्जाब में, किन्तु आर्यसमाज से बाहर और सुदूर प्रान्तों में उन्होंने प्रचार का काम किया। कन्या-महाविद्यालय के ही कारण जालन्धर में एक अद्भुत आकर्षण पैदा हो गया। भारत के बाहर से भी कन्यायें यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आने लगीं।

१८६२ में इस महान् कार्य में देवराज जी ने अपने को सर्वतोभावेन लगा दिया और ७५ वर्ष की लम्बी आयु की अन्तिम साँस तक अपने को उसी में लगाये रखा। फिर भी समाज का थोड़ा-बहुत काम आप ज़रूर करते रहे। उसके सभासद् भी रहे। लेकिन पीछे कुछ उपराम पैदा हो गया। १६१८ से १६२४ तक की कुछ

बातें आपने संक्षेप में लिखी हैं। उनमें लिखा है कि "आर्य समाज के प्रबन्ध-विषयक मामलों में दखल देना मैंने छोड़ दिया। चार साल तो सभासद् भी नहीं रहा। यद्यपि चन्दा देता रहा। अब पिछले वर्ष फिर सभासद् बना हूँ, किन्तु प्रबन्ध के कामों से अलग रहता हूँ। समाज में कभी-कभी उपदेश देता रहता हूँ। साप्ताहिक अधिवेशनों में कम जाता हूँ। सामाजिक लोगों से प्रेम रहा, अन्य मतावलम्बियों से भी।" इस उपराम वृत्ति का कारण यही प्रतीत होता है कि आपने अपने को महाविद्यालय के साथ तन्मय कर दिया था।

दूसरा-भाग

कन्या-महाविद्यालय—

"हे परमात्मन् ! मुझे धर्म-परायण बना और मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार कर कि इस शरीर को छोड़ कर जब मैं दूसरा शरीर धारण करूं, तब वह एक धर्मात्मा, विदुषी व परोपकारणी महिला का हो, ताकि मै अपनी बहिनों के उद्धार के लिये अधिक यत्न कर सकूं।"

१ जनवरी १८९३ देवराज

"जालन्धर कोई ऐतिहासिक स्थान नहीं है, लेकिन कन्या महाविद्यालय ने इसे देशभर में मशहूर कर दिया है। स्त्री-शिक्षा के बारे में महाविद्यालय सराहनीय और अनुकरणीय काम कर रहा है।

सर माइकेल ओडायर

११ अक्तूबर १९१६ पंजाब के लैफ्टिनेण्ट गवर्नर

१. स्वप्न

२. आकाँक्षा

३. प्रारम्भ

४. विकास

५. प्रबन्ध व व्यवस्था

६. लोकप्रियता

७. आकर्षण, विशेषतायें और सेवा

८. पुत्र और विरोध

९. चाचा जी

१० कन्याओं की भक्ति और उत्साह

१. स्वप्न

इंगलैण्ड के भूतपूर्व महामन्त्री रैमज़े मैकडानेल्ड ने आर्य-समाज के शिक्षा-सम्बन्धी कार्य को लार्ड मैकाले द्वारा १८३५ में प्रवर्तित अंगरेज़ी शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध विद्रोह बताया था। आर्यसमाज के नेताओं ने यह भाँप लिया था कि जहाँ एक ओर ईसाई अपनी शिक्षा-पद्धति द्वारा सारे देश को एक चौथाई सदी में ईसाइयत में रंग देने का निश्चय किए हुए थे, वहाँ दूसरी ओर लार्ड मैकाले का यह अभिमान था कि यदि उनकी शिक्षा-पद्धति काम कर गई, तो बीस वर्ष के अरसे में बंगाल में एक भी हिन्दू-बालक हिन्दूधर्माभिमानी नहीं रहेगा। बङ्गाल से बाहर अन्य प्रान्तों में भी अपनी शिक्षा-पद्धति का वैसा ही प्रभाव होने की उन्हें पूरी आशा थी। उनका यह ख्याल था कि भारत में ऐसी शिक्षा-पद्धति शुरू करनी चाहिये, जो यहाँ एक ऐसी जमात पैदा कर दे, जो रंग-रूप तथा हाड़-मांस में भले ही हिन्दुस्तानी रहे, लेकिन रहन-सहन तथा आचार-विचार आदि में पूरी तरह अंग्रेज़ बन जाय। वे इस जमात से मुट्ठी भर शासकों और करोड़ों शासितों के बीच दुभाषिये का काम लेना चाहते थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के संस्थापकों व संचालकों और ईसाई-धर्म के प्रचारकों के मनसूबों के विरुद्ध आर्यसमाज ने सिर उठाते ही सब से पहिले शिक्षा का काम अपने हाथों में लिया। लाहौर में ऋषि

दयानन्द सरस्वती की स्मृति में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज की नींव उनकी मृत्यु के तीन वर्ष बाद १८८५ में रख दी गई थी। पञ्जाब की समस्त आर्यसमाजों और आर्यसमाजियों ने एक व्यक्ति की तरह उस के लिये काम किया। लाला देवराज जी ने भी उस के लिये कुछ उठा नहीं रखा। शिक्षा की ओर आप की प्रवृत्ति छात्रावस्था में ही हो गई थी। समाज-सुधार की भावना से आप के हृदय में यह पूरी तरह समा गया था कि सब बुराइयों का एक मात्र इलाज शिक्षा है। स्त्रियों को गन्दे गाने गाते हुये देख कर आप का हृदय रो पड़ता था और आप सोचते थे कि स्त्री-जाति का उद्धार कब और कैसे होगा? १८८३ की ५ मार्च की डायरी में आप के इस विचार का एक चित्र अङ्कित है। उस में लिखा है कि "लाला कृपाराम के साथ मास्टर भैरोंप्रसाद के यहाँ गया। वहाँ स्त्रियाँ गन्दे गीत गा रहीं थीं। तौबा! अफ़सोस!! ऐसा कोई भी नहीं, जो इन बेचारियों को जहालत के पल्ले से छुड़ा दे। स्त्रियों का क्या दोष है? दोष इन के पतियों और रिश्तेदारों का है। मैं हमेशा से स्त्रियों का तरफ़दार रहा हूँ। मेरे दिल में यह खूब अच्छी तरह बैठा हुआ है कि स्त्रियाँ आदमियों की निस्बत नेक और रहम दिल होती हैं।......... आह! इनकलाबे दौराँ!! स्त्रियाँ इतनी जाहिल हो गई हैं कि गन्दे और अच्छे गीतों में कुछ फ़र्क नहीं कर सकतीं। ऐ आर्यावर्त! इस गिरोह के इक़बाल का सितारा कब चमकेगा? उस समय आप को

यह कल्पना कहाँ थी कि कृष्ण महाराज ने कैसे अर्जुन को महाभारत के युद्ध के लिये निमित्त बनाया था, इसी प्रकार स्त्रियों को जहालत से उद्धार करने वाले इन्कलाब और उन के इक़बाल का सितारा चमकाने के निमित्त आप ही होंगे। सदियों से स्त्री-जाति के प्रति जो घोर अन्याय, पक्षपात-पूर्ण व्यवहार, सामाजिक अत्याचार और धार्मिक अनाचार हो रहा था, उसके विरुद्ध एक साथ ही सारे देश में विप्लव की आग सुलग उठी थी। बङ्गाल में जो महान् कार्य उस विल्लव को सफल बनाने के लिये स्वनाम धन्य राजा राममोहन राय और श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने, दक्षिण में प्रातः स्मरणीय महादेव गोविन्द रानडे और श्रीधोंडोप त केशव कर्वे ने किया था, उसी को करने की स्फूर्ति उत्तर भारत में देवराज जी के हृदय में पैदा हुई। अनुकूल परिस्थितियों मे उस स्फूर्ति को बल मिला। ११ नवम्बर १८८६ की डायरी में लिखा है कि "हमारे लड़के-लड़कियाँ विद्या नहीं पढ़ते। मुझे इस ओर ध्यान देना चाहिये और कोई-न-कोई समय इनकी तालीम के लिए निकालना चाहिए।" उपनिषदों में कहा है कि "मनुष्य जैसा मन में ध्यान करता है, वैसा वाणी से करता है जैसा कहता है; वैसा करता है। जैसा करता है, वैसा फल भोगता है।" देवराज जी पर उपनिषदों का यह कथन बिल्कुल ठीक बैठा। वे जो कल्पना किया करते थे, समय आया कि वह कार्य रूप में परिणत हुई। जो स्वप्न वे देखा करते थे, वे पूरे हुए। कन्या-महाविद्यालय पूरी तरह उनके स्वप्नों की सृष्टि है, उनकी कल्पनाओं की पूर्ति है और उनके

विचारों की प्रतिमा है। उसकी स्थापना में औरों का भी हाथ था, लेकिन उस सृष्टि की रचना करने वाले ब्रह्मा आप ही थे। कन्याओं के चरित्र-निर्माण के अलावा वहाँ के मकानों की दीवारों को भी आपने अपने हाथों से चुना था और वहाँ के बगीचे में वे पौदे भी अपने ही हाथों से रोपे थे, जो ज़मीन के ऊपर सिर उठा कर प्रति दिन बढ़ते हुए इस बात की साक्षी देते रहते हैं कि प्रकृति परिवर्तनशील और संसार प्रगतिशील है। ऐसे परिवर्तनशी और प्रगतिशील जगत् में यह असम्भव था कि मातृ-जाति सदा के लिए नितान्त दीन, हीन एवं पराधीन अवस्था में पड़ी रहती। कोई उसकी सुध न लेता।

२—आकांक्षा

"जब कोलम्बस ने पाताल देश अमेरिका का पता लगाया था, तब उनको अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़े थे। उसके पास किसी प्रकार की कुछ भी सामग्री नहीं थी। सब से बड़ी दिक्कत यह थी कि उसकी बात पर कोई यकीन न करता था। कोई यह नहीं मानता था कि कोई पाताल देश है भी कि नहीं ?

मैं कन्या-महाविद्यालय के काम को कोलम्बस के काम से उपमा दूँगा। फ़र्क केवल इतना है कि कोलम्बस ढाई वर्ष की मेहनत के बाद पाताल देश के तट पर पहुँच गया, मगर विद्यालय के कार्यकर्ताओं को बीस वर्ष के अर्से के बाद अभी सिर्फ़ किनारा नज़र आने लगा है। विद्यालय-रूपी पाताल देश के कोलम्बस उसके अधिकारी लाला बद्रीदास जी, लाला रामकिशन जी, लाला कर्मचन्द्रजी व लाला जेठामल जी हैं और हमारी इज़ाबेला वह थी, जिसने उस समय हमें इस महायज्ञ का अनुष्ठान करने के लिये प्रेरित किया था, जब कि उसको शुरू करने के लिये हमारे पास केवल ८) की पूंजी थी। सदियों से गिरी हुई स्त्री-शिक्षा की ध्वजा को उड़ा कर फिर से ऊँचे आकाश में फहराने वाली वह देवी थी हरियाना की माई भगवती। आज ज़माना बदल चुका है।

समाज-सुधार के मैदान में हम काफ़ी हद तक आगे बढ़ गये हैं। आज ये देवियाँ बिना चिक व परदे के यहाँ बैठ सकती हैं। मगर हरियाना की इस इज़ाबेला ने ऐसे समय पर काम करना शुरू किया था, जब कि स्त्रियों के लिये नंगे मुँह फिरना, कलंकित करने वाला था। हम हरियाना को ऐसा ही पवित्र समझेंगे, जैसे हरिद्वार को।

"विद्यालय एक वृक्ष है। इसकी शाखायें बहुत-सी हैं। इनमें से किसी में कुछ लगा हुआ है और किसी में कुछ। पहली शाखा विद्यालय, स्कूल, या कालेज है। दूसरी शाखा आश्रम है। तीसरी शाखा विधवा-भवन और चौथी कन्या-अनाथालय।

"सज्जनो, विद्यालय एक आर्यसमाजिक संस्था है। इसकी प्रबन्ध कारिणी-समिति एक रजिस्टर्ड संस्था है जो कि समस्त आर्यसमाज की है। कुछ लोग एतराज़ करते हैं कि विद्यालय सामाजिक संस्था कैसे हो सकती है? विद्यालय की प्रबन्धकारणी सभा में आर्यसमाजों के प्रतिनिधि आते हैं। जो संस्था अपनी पहली जमात की लड़कियों को आर्यसमाज के नियम याद कराती है और स्वामी जी के ग्रन्थों को बाकायदा पढ़ाती है, यदि वह संस्था सामाजिक नहीं, तो और कौन सामाजिक संस्था हो सकती है? यह समाज का बच्चा है, सामाजिक संस्था है और ईश्वर करे कि यह समाज की ही रहे।

"लोग कहते हैं कि विद्यालय के अधिकारियों के दिमाग़ में खलल आ गया है। उन्होंने ऐसी बहुत–सी बातें जारी कर दी

है, जो शास्त्र-विरुद्ध हैं जैसे गाना-बजाना। यदि बाईबिलया कुरान का मानने वाला ऐसा ऐतराज करे, तो क्षमा किया जा सकता है। लेकिन, यदि वेदों का मानने वाला ऐसा करे, तो उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। उसके लिये निहायत अफ़सोस है। हमारा तो गाने के साथ सृष्टि के प्रारम्भ से गहरा सम्बन्ध है। यहाँ तक कि चार में से एक वेद, सामवेद, केवल गान-विद्या के लिये है।

"दूसरी शङ्का पहरावे पर है। कोई कहता है कि लहँगे को लिवास में शामिल करो। हमारे यहाँ देश-देशान्तरों से कन्याओं को आना है। अदि आश्रम या विद्यालय किसी ख़ास प्रान्त के लिए होता, तो हम भी वैसा ही पहरावा नियत कर लेते। मगर, सारे देश के लिये है। किसी ख़ास प्रान्त के लिये नहीं। सारे देश की प्रतिनिधि कन्यायें हैं। इस लिये हमें ऐसा ही पहरावा रखना होता है जिसको अपनाने और पहिनने में किसी भी प्रान्त की लड़कियों को आपत्ति न हो।

'माता में पिता की अपेक्षा सन्तान के लिये अधिक हित होता है। इसलिये माता पिता की अपेक्षा कुरबानी भी अधिक कर सकती है। यदि किसी संस्था के छात्रों में त्याग है, तो वह अमृत देने वाला है। विद्यालय में जब आप ड्योढ़ी में प्रवेश करेंगे, तो आपको उन छात्राओं के नाम देखने को मिलेंगे, जिन्होंने छः मास या उससे अधिक समय, अपने आराम को कुरबान करके, विद्यालय की सेवा के लिये दिया है।

"अभी हमें बहुत काम करने हैं। लड़कियों के लिये एक

टैकनीकल स्कूल की ज़रूरत है। जिल्दसाज़ी, घड़ीसाज़ी आदि के काम लड़कियाँ घर बैठे कर सकती हैं। कन्याओं को विदेश भेजकर विद्या-लाभ कराने के लिये 'विदेश-यात्रा-फ़ण्ड' कायम करने की ज़रूरत है। 'सिक-नरसिंग' की शिक्षा लड़कियों को दी जाती है। इसको अधिक बढ़ाने की ज़रूरत है। जगह-जगह विद्यालय की शाखायें कायम करना ज़रूरी है। पहाड़ पर लड़कियों के लिये 'रेस्ट हाऊस' बनाने की आवश्यकता है। किश्ती चलाने और घुड़सवारी सिखाने के लिये सामान जुटाना आवश्यक है। स्त्री-प्रचारिकायें भी पैदा करनी हैं।

"हम अपनी सारी कन्या-पाठशालाओं में एक ही पाठ-विधि प्रचलित करके एक "महिला-विश्व-विद्यालय" की स्थापना करना चाहते हैं।"

यह देवराज जी के उस भाषण का सारांश है, जो आपने जालन्धर-आर्यसमाज के उत्सव पर सन् १६१० में दिया था। इससे जहाँ महाविद्यालय के बीस-पचीस वर्ष के जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है और उसके मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं का कुछ पता चलता है, वहाँ देवराज जी की महाविद्यालय के बारे में महत्वाकांक्षा का भी कुछ परिचय मिलता है। देवराज जी कन्या-महा-विद्यालय को एक ऐसा "कन्या-विश्वविद्यालय" बना देना चाहते थे, जो आर्यसमाज के स्त्री-शिक्षा के कार्य का केन्द्र होने के साथ-साथ देश की समस्त शिक्षण संस्थाओं के लिये आदर्श होता और जिसमें लड़कियों के शारीरिक, मानसिक और

आध्यात्मिक विकास के लिये पूरा प्रबन्ध हो कर उन्हें स्वावलम्बी भी बनाया जा सकता। सचाई तो यह है कि आपने महा-विद्यालय का कार्य लड़कियों को केवल साक्षर बनाने के लिये हाथ में नहीं लिया था, लेकिन आप उनको ऐसी गृहिणी एवं मातायें बनाना चाहते थे, जिनमें नरक बने हुए घरों को स्वर्ग बनाने की क्षमता पैदा हो जाती और जो समाज के लिये निश्रेयस एवं अभ्युदय के मार्ग को प्रशस्त कर देतीं। स्त्रियों की जहालत जहाँ आपके लिए असह्य थी, वहाँ विधवाओं की दुर्दशा और अनाथ कन्याओं की दुर्गति भी आपके लिये सह्य नहीं थी। जिस स्त्री-जाति के व्यक्तित्व का कुछ भी स्वतन्त्र अस्तित्व शेष नहीं बचा था, उसके उद्धार की आकांक्षा आपके हृदय में समाई हुई थी। आप महिला-समाज के जीवन में चहुँमुखी क्रान्ति पैदा करना चाहते थे। इसीलिये आपने स्त्री-समाज में ऐसा व्यापक कार्य किया, जिसे 'सर्वांगीण' कहा जा सकता है। केवल विद्यालय से सन्तोष न मान कर आश्रम, विधवा-भवन और अनाथालय की भी स्थापना करके उसकी प्रवृत्तियों को सचमुच ही चहुँमुखी बना कर ब्रह्मा का रूप धारण करा दिया और चारों दिशाओं में उसके कार्य का विस्तार कर उसे सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय संस्था बना दिया। संस्था का यह व्यापक स्वरूप देवराज जी की व्यापक भावना और व्यापक आकांक्षा का मूर्तरूप था।

शिक्षा के कार्य को जब अपने हाथों में लिया, तब आप

शिक्षा-शास्त्री नहीं थे। हिन्दी और संस्कृत तक का आप को विशेष अभ्यास नहीं था। संस्था के संचालन का आप को कुछ भी अनुभव नहीं था। साधारण पाठशाला का चलाना तक कितना कठिन था, यह इसी से प्रगट है कि कन्या-महाविद्यालय के लिये किया गया यत्न दो बार असफल हो चुका था। प्रारम्भिक जीवन से आप का यह स्वभाव बन गया था कि जिस किसी काम को हाथ में लेते थे, अपने को उस के योग्य बनाकर उसे सफल बनाने में तन-मन से लग जाते थे। आप के जीवन की सफलता का रहस्य इसी में था कि आप न तो किसी काम को इतना छोटा समझते थे कि उस के करने में अपनी हीनता अनुभव करते हों और न किसी काम को इतना बड़ा ही समझते थे, जो आप की शक्ति के बाहर का हो। आर्य-समाज में प्रवेश करने पर जिस प्रकार आप ने अपने को दृढ़ आर्य, उपदेशक और प्रचारक बनाने में लगा दिया, उसी प्रकार कन्या-महाविद्यालय का काम हाथ में लेने पर आप ने अपने अन्दर वे सब चीज़ें पैदा कीं, जो महा-विद्यालय के संचालक में होनी आवश्यक थीं। उन में सब से बड़ी चीज़ थी माता के हृदय की ममता। सच-मुच आश्रम की कन्याओं ने माता-पिता की अलहदगी को आप के ही कारण कभी अनुभव नहीं किया, बल्कि, आश्रम में आने के बाद उन्होंने माता-पिता और घर को बिलकुल भुला दिया। उस समय लड़कियों के लिये न तो शिक्षा की कोई पाठ-विधि थी और न पढ़ाने के लिये पुस्तकें। यदि विद्यालय वालों ने

भी लाहौर के कालेज के समान केवल 'दयानन्द' और 'आर्य समाज' का नाम ले, बहती गंगा में डुबकी लगा-लगा, पुण्य लूटना होता तो कोई बात नहीं थी; लेकिन उन्हें तो भागीरथ के समान देश में एक नई गंगा लाने के लिये घोर तपस्या करनी थी और उस तपस्या अथवा साधना की सारी सामग्री भी खुद ही जुटानी थी। इसी लिये स्वतन्त्र पाठविधि बनाने और उस के लिये उपयुक्त पुस्तकें लिखने का काम भी देवराज जी ने अपने हाथों में लिया। माता जी और धर्म-पत्नी आप को विद्यालय एवं आश्रम के संचालन में पूरी सहायता देती थीं, तो भी शिक्षक और अधिष्ठाता के कार्य का सम्पादन एक बड़े अरसे तक आपने स्वयं ही किया। कन्या-संस्था के प्रबन्ध की जिम्मेवारी का सारा जोखम भी आपने अपने कन्धों पर उठाया। दफ्तर की लिखा-पढ़ी, लड़कियों के अभिभावकों के साथ पत्र-व्यवहार और विद्यालय के लिए फ़एड जमा करने के चालू काम-काज़ के अलावा जब महाविद्यालय पर विरोधियों का हमला होता था, तो उनके सामने छाती तान कर आपको ही खड़ा होना पड़ा था। साधारण आन्दोलन के लिए तो आप लेखादि लिखते ही थे, लेकिन ऐसे अवसरों पर विशेष लेख लिखने की मुसीबत भी आपको ही झेलनी पड़ती थी। कितनी भारी ज़िम्मेवारी थी और कितना बड़ा काम था ? देवराज जी उस भार को अपनी इच्छा के बल पर और महाविद्यालय को एक महान् आदर्श संस्था बनाने की महत्वाकाँक्षा के सहारे सम्भाले हुए थे।

अपनी महत्वाकाँक्षा के अनुसार कन्या-महा-विद्यालय को आदर्श-संस्था और अपने को उसकी सेवा के लिए सर्वथा उपयुक्त बनाने के लिए आपका विचार देश की अन्य शिक्षण-संस्थाओं को देखने का था। आप सोचा करते थे कि उनके अवलोकन से अपनी संस्था के लिए बहुत कुछ सीखा जा सकता है। ५ मार्च १८९५ को इसी विचार से लाहौर का विक्टोरिया स्कूल देखने गये थे और १८९६ के फ़रवरी मास में आपने अपनी धर्म-पत्नी और तीन कन्याओं को साथ लेकर युक्त-प्रान्त, राजपूताना, अहमदाबाद, बड़ौदा और बम्बई आदि का दौरा किया था। आर्य-समाज एवं महाविद्यालय के प्रचार और फ़ण्ड जमा करने के लिए भी आपने कई लम्बे-लम्बे दौरे किये थे, लेकिन यह दौरा सिर्फ़ शिक्षण-संस्थाओं को देखकर शिक्षा-सम्बन्धी अनुभव प्राप्त करने के लिये किया गया था।

फ़रवरी के दूसरे सप्ताह में आप जालन्धर से बिदा होकर सहारनपुर पहुँचे। वहाँ की पाठशाला और अजायबघर का अवलोकन किया। अजायबघर में साधारण ज्ञान के लिए सब तरह के अन्न एवं फलों व फूलों के बनावटी नमूने रखे गये थे। आपने वैसा ही अद्भुतालय अपने यहाँ बनाने का विचार पक्का कर लिया। पाठशाला की कन्याओं का रामायण-पाठ सुनकर अपने यहाँ भी उसको शुरू करने का आपने निश्चय कर लिया। पाठशाला के संचालकों ने महाविद्यालय की योजना को पसन्द कर उसके अनुसार काम करना स्वीकार किया। आपका महिला

विश्व-विद्यालय का स्वप्न आपकी आँखों के सामने नाचने लगा। १५ फ़रवरी को आप बाँदीकुई पहुँचे। वहाँ ईसाइयों की पाठशाला देखी। महाविद्यालय के सम्बन्ध में भाषण दिया और कुछ चन्दा भी जमा किया। १८ को अजमेर पहुँचे। यहाँ दयानन्द हाई स्कूल का निरीक्षण किया और श्री रामविलास सारडा, श्री हरविलास सारडा और श्री जमनादास जी आदि से मिले। १६ फ़रवरी को साबरमती पहुँच कर राय मलिकराम को साथ लिया और २१ फ़रवरी को अहमदाबाद पहुँचे। यहाँ आपने रणछोड़-लाल कन्या-पाठशाला, मगनभाई कन्या-पाठशाला, भोलानाथ साराभाई इन्स्टीटयूट और फ़ीमेल ट्रेनिंग कालेज अच्छी तरह देखे। सब को देखकर आप बहुत प्रसन्न हुये। सभी से आपने कुछ न-कुछ महाविद्यालय के लिये सीखा। लिटररी इन्स्टीटयूट में महिलाओं के परस्पर मिलने-जुलने और समाचार-पत्र आदि पढ़ने का काम आपको बहुत पसन्द आया। फ़ीमेल ट्रेनिंग कालेज में अध्यापिकायें तय्यार की जाती थीं। उसका मकान बहुत खुला और हवादार था। दीवारों पर शिक्षा-प्रद चित्र टँगे हुये थे। उस समय अहमदाबाद में दस कन्या पाठशालायें थीं। तीन मिशन की, तीन प्राइवेट और बाकी म्युनिसिपैलिटी की। कालेज की लड़कियाँ अँग्रेज़ी खूब बोलती थीं। उन्हें हारमोनियम और गाना भी सिखाया जाता था। आपने इन सब बातों को महाविद्यालय में जारी करने का निश्चय किया। २२ को लिटररी इन्स्टीटयूट में स्त्री-शिक्षा पर हिन्दी में आपका भाषण हुआ।

२३ फ़रवरी को आप बड़ौदा पहुँचे। वहाँ का कला-भवन और कन्या-पाठशाला देख कर आप बहुत प्रसन्न हुए। महाराज से भी मुलाकात हुई। कन्याओं ने उनको सन्ध्या के मन्त्र व भजन सुनाये। बहुत प्रसन्न हुए। कन्याओं को उन्होंने महारानी के पास भेजा। वे भी बहुत खुश हुईं। दूसरे दिन आपको फिर महाराज ने मुलाकात के लिये बुलाया। २८ को आप बम्बई गए, वहाँ स्वर्गीय जस्टिस महादेव गोविन्द रानडे से मिले। २६ को समाज-मन्दिर में आपका भाषण हुआ। ३ मार्च को कन्या-पाठशालाओं का निरीक्षण किया। ४ मार्च को श्री रानडे से फिर मिले। जालन्धर आने का उनसे वायदा लिया। ५ मार्च को यहाँ से वापिस लौट पड़े। ६ को बड़ौदा और ८ को दिल्ली होते हुए ६ को जालन्धर आ गये। जालन्धर आकर कन्या-महाविद्यालय में बहुत-सी बातों का प्रारम्भ किया। इस यात्रा के सम्बन्ध में लिखते हुए बम्बई की पाठशालाओं को लक्ष्य करके आपने अपनी डायरी में लिखा था कि "पाठशालाओं को देख कर मेरी आँखें खुल गईं। कन्याओं का गाना बहुत ही अच्छा था। कन्याएँ बहुत होशियार और समझदार मालूम होती थीं। उनको किण्डरगार्टन द्वारा शिक्षा दी जाती थी। मैंने इन पाठ-शालाओं से बहुत लाभ उठाया।" शिक्षक एवं गुरु होते हुए भी आप हर जगह अपनी संस्था के लिए विद्यार्थी बन कर जाया करते थे। मधु-मक्खियें जैसे अपने छत्ते के लिये चारों ओर से शहद बटोर लाती हैं वैसे ही आप भी चारों ओर से जो भी

अच्छाई मिलती, उसे महाविद्यालय के लिये बटोर लाया करते थे। इतनी बड़ी आकांक्षा को मूर्त रूप देने के लिये जितनी भी मेहनत की जाती, थोड़ी थी। जब लोगों ने देखा कि देवराज जी सब ओर से ध्यान हटाकर केवल महाविद्यालय के काम में लगते जा रहे हैं, तब वे उनसे कुछ नाराज़ रहने लगे। आपके साथी आर्यसमाजियों को यह सहन नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में आपने १८९६ की डायरी में लिखा है कि "जिस पाठशाला में युवा लड़कियाँ हैं, जिस पर सारे पंजाब की आशा लगी हुई है और जिसने अभी बहुत काम करना है, उसके लिये कितना समय दिया जाय, थोड़ा है।" इसी प्रकार १८९७ की डायरी के १२ सितम्बर के देवराज समाज का कुछ भी काम नहीं करता। इससे बढ़कर और क्या ग़लती होगी? समाज अब तक बहुत तरक्की कर जाता अगर हमारी स्त्रियें हमारे साथ होतीं। स्त्रियों के अज्ञान से आर्य-धर्म और आर्यसमाज की बहुत हानि हो रही है। मैं जड़ को सींच रहा हूँ। मैं घरों को स्वर्ग बनाने की कोशिश कर रहा हूँ। मातायें जब आर्य बन जावेंगी, तब पुत्र क्यों न आर्य बनेंगे।

यह थी महत्वाकाँक्षा, जिससे प्रेरित हो कर देवराज जी ने अपने को स्त्री-शिक्षा के लिये न्यौछावर कर दिया था। आप इसे मुक्ति का साधन समझते थे। इसी लिये इसको आपने अपने जीवन का मकसद बना लिया था। इसमें सन्देह नहीं कि आप की साधना सफल हुई। इस में आपको अपने इष्ट का दर्शन हुआ

और उसका मधुर वरदान आपको प्राप्त हुआ। इससे कौन इनकार कर सकता है कि जिस देश में मनुष्य-जीवन की औसत आयु केवल २३ वर्ष रह गई है, उसमें ७५ वर्ष का सुदीर्घ, सफल और यशस्वी जीवन इसी साधना का शुभ परिणाम था।

३—प्रारम्भ

हरे-भरे लहराते हुये खेत और फलों-फूलों से लदे हुये बगीचे को देख कर किसान या माली की महनत की सराहना ज़रूर की जा सकती है, लेकिन उस कठोर काम का ठीक-ठीक अनुभव नहीं लगाया जा सकता, जो अपने हाथ में फावड़ा लेकर ऊबड़-खाबड़ ज़मीन को सम कर के बंजर से उपजाऊ बनाने के लिये करना पड़ता है । महाविद्यालय की वर्तमान उन्नत एवं समृद्ध अवस्था से उस कठोर मेहनत का अन्दाज़ लगाना सम्भव नहीं, जो देवराज जी को करनी पड़ी थी। दक्षिण में स्त्रियों के प्रति पुरुषों की भावना के कुत्सित होते हुये भी परदा-प्रथा इतनी कठोर नहीं थी। इस लिये श्री कर्वे को इतनी विपरीत परिस्थिति में काम नहीं करना पड़ा, जितनी विपरीत अवस्थाओं का देवराज जी को सामना करना पड़ा । श्री कर्वे का त्याग, तपस्या और साधना भी असाधारण है। अपने विचारों के लिये उन्हों ने भी असाधारण कष्ट झेले हैं। सामाजिक बहिष्कार के कारण अपने घर तक में रहने को जगह नहीं मिली। लेकिन वे अपने विचारों पर दृढ़ रहे। संसार की कोई भी विघ्न-बाधा और विरोध उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सका उन को अनायास ही टाटा मेमोरियल ट्रस्ट की सहायता मिल गई, जिस से "महिला-विश्वविद्यालय" के सम्बन्ध में उन

की आकांक्षा व स्वप्न जल्दी ही पूरा हो गया और हिंगणे का जंगली गांव दक्षिण के समाज-सुधारकों के लिये परम पवित्र तीर्थ बन गया। देवराज जी को यत्न करने पर भी वैसी कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई और आप का "महिला-विश्वविद्यालय" का स्वप्न असिद्ध ही बना रहा। फिर भी अपने जीवन में जो सफ़लता आप को प्राप्त हुई, वह असाधारण है। आपकी साधना और तपस्या से निश्चय ही उत्तर भारत में जालन्धर शहर को वह गौरव प्राप्त हुआ, जो कर्वे की तपस्या से हिंगणे को, महात्मा मुन्शीरामजी की वर्षों की निरन्तर साधना से काँगड़ी की मरुभूमि को, कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर की समाधि बोलपुर की भूमि को और महामना पण्डित मदन मोहन जी मालवीय के सतत यत्न से गंगा तट को प्राप्त हुआ है। पंजाब को तक्षशिला के विश्व विद्यालय का जो अभिमान है, वह कुछ अंशों में इस गुलामी के गिरे हुये ज़माने में कन्या-महाविद्यालय के नाम से उसे फिर प्राप्त हो गया है। न केवल पंजाब के भिन्न भिन्न ज़िलों से किन्तु पंजाब के बाहर गुजरात, राजपूताना, बिहार, बङ्गाल, बर्मा से ही नहीं किन्तु फ़िजो एवं अफ्रीका तक से लड़कियाँ यहाँ आने लगीं। शिक्षा के क्षेत्र में किये इस अनूठे परीक्षण का अध्ययन करने क लिये दूर दूर से शिक्षा-शास्त्री वैसे आने लगे जैसे कभी देवराज जी अहमदाबाद बड़ौदा और बम्बई गये थे। उसके विस्तार की मनोहर कहानी आगे पन्नों में लिखी जायगी, लेकिन यहाँ इतना ही बताना है कि सर्वथा विपरीत

परिस्थतियों में अकेले खड़े होकर एकाकी श्रम द्वारा; बिना किसी पूँजी और सहारे के देवराज जी ने सचमुच ही एक जादूगर का काम कर दिखाया। सारी अवस्थाओं पर विचार करने के बाद मुँह से अपने-आप यह निकल पड़ता है कि देवराज जी का यह काम एक अलौकिक चमत्कार था। इंजीनियर कलाओं के सहारे मनुष्य को चकित करने वाले विशाल-भवन कुछ ही दिनों में खड़े कर देते हैं। वैज्ञानिक विज्ञान के सहारे पौदों के आकार-प्रकार को कुछ ही दिनों में कुछ का कुछ बना देते हैं। जादूगर के पास भी तमाशा दिखाने को थोड़ा-बहुत सामान होता ही है। पर, हमारे चरित्र-नायक के पास क्या था? न तो उनके पास इंजीनियरों की कला थी, न वैज्ञानिकों का विज्ञान था और न थी उसके पास जादूगर की पोटली ही। हाँ, उसके पास एक स्वप्न था, इच्छा और आकाँक्षा थी, अपने पर विश्वास और ईश्वर-भरोसा था। मातृ-जाति का काया-पलट करने का दृढ़ संकल्प भी उसके विश्वासी हृदय के एक कोने में समाया हुआ था। वीर नैपोलियन की तरह वह आगे बढ़ा और उसने दिखा दिया कि 'असम्भव' शब्द उसके कोष में नहीं है। भयानक से भयानक आक्षेपों, भयंकर विरोधियों और भीषण से भीषण आरोपों की बौछार होने पर भी उसने पीठ नहीं दिखाई। छत्रपत्ति शिवा जी के समान वह उठा और सिर्फ माता के आशीर्वाद के सहारे उसने अज्ञानता के अजेय दीख पड़ने वाले दुर्ग पर विजय प्राप्त करके इसकी चोटी पर स्त्री-शिक्षा की विमल पताका फहरा दी।

कैसी विपरीत परिस्थितियों में हमारे चरित्र-नायक ने काम किया था, इसका एक हलका-सा चित्र महाविद्यालय की एक कन्या ने मार्च १९३४ के 'जलविद्-सखा' में देवराज जी की ७४ वीं वर्षगाँठ के निमित्त से अङ्कित किया है। वह लिखती है कि "जब स्त्री-शिक्षा के प्रेमियों पर ईंटों और पत्थरों की बौछार होती थी, लोग उनपर अनेक लाँछन लगाने में संकोच नहीं करते थे, शिक्षा पाप-कर्म समझा जाता था, किसी कन्या के हाथ 'अक्षर-दीपिका' होना इतना बड़ा अपराध समझा जाता था कि उसकी सगाई छूट जाती थी, तब श्रद्धेय चाचा जी ने कन्या-महाविद्यालय की स्थापना कर बड़ी दूरदर्शिता का काम किया। १९६६ विक्रमी की बात है कि जब मैं यहाँ पढ़ने के लिये आई, तो बिरादरी ने घर वालों को सामाजिक बहिष्कार का भय दिखाया। बिरादरी वालों को डर था कि मैं ऐसे आर्यों में जा कर भ्रष्ट हो जाऊँगी, जो कि विधवाओं की शादी करते हैं। कुल को दाग़ लगा कर अपने बाप-दादों की मर्यादा का उल्लंघन कर डालूँगी।"

महाविद्यालय के निर्माताओं में जिनका नाम चिरकाल तक श्रद्धा और आदर के साथ लिया जाता रहेगा, जिनका चित्र देख कर ही एकाएक पुराने ऋषियों की याद आ जाती है, जो सचमुच ऋषि-आश्रमों के समान कन्याओं को विद्यालय में पढ़ाया करते थे और कन्या-विद्यालय के लिये किये गये यत्नों के बार-बार विफल होने पर भी जो अपने विश्वास एवं श्रद्धा की

चट्टान पर अंगद के अंगूठे की तरह डटे रहे, उन अध्यापक श्रीपति जी की छोटी-सी जीवनी की भूमिका में देवराज जी ने लिखा है कि पण्डित श्रीपति ने कन्या-शिक्षा का काम तब आरम्भ किया था, जब स्त्री-शिक्षा का नाम लेने वालों को मूर्ख, पागल, धर्मनाशक और देश को तबाह करने वाले कहा जाता था। यह उन दिनों की बात है, जब हरियाना की देवी माई भगवती के सगे भाइयों तक ने उनसे स्त्री-शिक्षा और धर्म-प्रचार की वजह से सम्बन्ध तोड़ने में अपना कुशल समझा और पूजनीया माई जी को गालियाँ ही नहीं दीं, किन्तु उन पर फौज़दारी मुकद्दमे चला कर उन्हें अदालतों में घसीटा। माई जी को यदि पञ्जाब में स्त्री-शिक्षा की पथ-प्रदर्शिका कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं। उन दिनों यदि किसी कन्या के हाथ में कोई पुस्तक होती, तो उसकी सगाई छूट जाती थी, क्योंकि भूली-भटकी अज्ञानता-भ्रमित जनता यह समझती थी कि लड़की पढ़ी कि हाथ से गई।"

पहिले दो बार विद्यालय का परीक्षण इसी लिये सफल नहीं हुआ था कि उसके लिये लड़कियाँ नहीं मिलीं। लाला देवराज जी घेर-घार कर, माँ-बाप के साथ बहस करके, घर-घर जाकर लड़कियों को बुला लाते थे। एक दिन एक लड़की आती थी, तो दूसरे दिन कोई सम्बन्धी आता, उसे विद्यालय से उठा ले जाता। पुराने संस्कारों में पड़ी हुई जनता का तो यह हाल था ही, लेकिन आर्यसमाज से जीवन, जागृति, स्फूर्ति और चेतना

का सन्देश लेने वाले आर्यसमाजियों की मनोवृत्ति भी अभी नहीं बदली थी। उनके हृदयों पर भी पुराने संस्कारों और विचारों का आवरण वैसा ही चढ़ा हुआ था। १६ जून १८८६ को पण्डित श्रीपति जी ने जालन्धर-आर्यसमाज में यह विचार पेश किया था कि स्त्रियों को भी समाज में आने की आज्ञा दी जावे, किन्तु आर्यसमाज ने इस विचार को हानिकारक समझ कर उसे स्वीकार नहीं किया। दो-तीन वर्ष बाद जब स्त्री-समाज की स्थापना हुई, तो अतरंग सभा में यह प्रस्ताव पास हुआ कि उसे तब ही चलाया जाय, जब वह पुरुष-समाज के आधीन रहे। जालन्धर आर्यसमाज ने आर्य-पुरुषों के लिये बहुत सी बातों में पथ-प्रदर्शन का काम किया है, और स्त्री-शिक्षा की राह भी उनको उसने ही दिखाई है। लेकिन जब जालन्धर के आर्यों का यह हाल था, तब दूसरे समाजों के आर्यों की मनोवृत्ति के बारे में कल्पना करना कठिन नहीं होना चाहिये। सच तो यह है कि बाहर के विरोध की अपेक्षा आर्य-समाजों का आर्यसमाजियों द्वारा कन्या-महाविद्यालय का कहीं अधिक विरोध हुआ। परायों की अपेक्षा अपनों ने देवराज जी के मार्ग में अधिक काँटे बखेरे। सम्भवतः ये विघ्न-बाधा और विरोध न हों तो महापुरुषों की साधना की परीक्षा ही न हो सके। भगवान् बुद्ध की बोधि-वृक्ष के नीचे की गई तपस्या की परीक्षा इसी प्रकार की गई थी ? ऋषि दयानन्द को कितने विरोध का सामना करना पड़ा था ?

यह वह समय था जब घर में कन्या के पैदा होने पर मातम छा जाता था, उसके लालन-पालन के लिये किये जाने वाले खर्च को फ़िज़ूल समझा जाता था और उसकी शिक्षा के लिये खर्च करना तो दूर रहा, उसकी कल्पना एवं विचार तक किसी के हृदय में पैदा नहीं होता था। ईसाईयों ने स्त्री-शिक्षा के लिये नहीं, किन्तु ईसाइयत के प्रचार के लिये कुछ स्थानों पर छोटी-मोटी कन्या-पाठशालायें ज़रूर स्थापित कर दी थीं। जालन्धर में भी उन्होंने एक छोटी सी पाठशाला खोल दी थी। श्री मुन्शीराम जी ने उन दिनों की एक घटना का उल्लेख अपनी डायरी में किया है। वे लिखते हैं कि "जब मैं शाम को कचहरी से लौट कर घर आया, तो वेदकुमारी दौड़ी आई और जो भजन पाठशाला से सीख कर आई थी, सुनाने लगी—'इक बार ईसा ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल ? ईसा मेरा राम रसिया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया।" मैं बहुत चौकन्ना हुआ, तब पूछने पर पता लगा कि आर्य-जाति की पुत्रियों को अपने शास्त्रों की निन्दा करनी भी सिखलाई जाती है। निश्चय किया कि अपनी पुत्री-पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिये। तीसरे दिन रविवार को आर्यसमाज में कुछ लोगों से इस बारे में चर्चा हुई और विद्यालय के लिये अपील लिखी जा कर काम करना तय हुआ।" महाविद्यालय के प्रारम्भ का इतिहास वास्तव में ही इतना उत्साह-वर्धक और स्फूर्तिदायक है कि मुर्दा से मुर्दा दिलों में भी वह रूह फूँकने और निराश से निराश हृदय में भी आशा का संचार करने वाला है।

किसी ने बिलकुल ठीक कहा है कि महान कार्यों का आरम्भ बहुत छोटे से होता है। कन्या महाविद्यालय पर यह उक्ति बिलकुल ठीक बैठती है। २६ दिसम्बर १८८६ को जालन्धर आर्यसमाज की अंतरंग-सभा में यह प्रस्ताव पास हुआ कि "एक ज़नाना स्कूल खोला जाय, जिसके लिये एक रुपया माहवार खर्च करना मञ्जूर है।" आर्यसमाज की उसी वर्ष १८८६ की रिपोर्ट में इस स्कूल के सम्बन्ध में लिखा है कि "एक ज़नाना स्कूल भी समाज ने खोला हुआ है, लेकिन योग्य अध्यापिका न मिलने के कारण इस की अवस्था अच्छी नहीं।" माता काहनदेवी जी के घर में माई लाडी, जो पहिले ईसाई स्कूल में थी, पढ़ाती रही और उसी का नाम 'ज़नाना स्कूल' रहा। बाद में समाज ने १) मासिक देना भी बन्द कर दिया। माता जी माई लाडी को १) महीना और चार रोटियाँ रोज़ देती रहीं"। कुछ बाद यह ज़नाना स्कूल भी लड़कियों के न मिलने से बन्द हो गया।

१८८६ में फिर दूसरी बार यत्न किया गया। उस वर्ष ३० अगस्त को आर्यसमाज की अन्तरङ्ग सभा में यह प्रस्ताव पास हुआ कि "लाला देवराज ने तजवीज़ पेश की कि जालन्धर-आर्य समाज की मार्फ़त एक 'गर्ल्स स्कूल' खोला जावे। चन्दा लिखवाने और नियमावली बनाने के लिये एक कमेटी बनाई जावे।" इस कमेटी ने कुछ भी काम नहीं किया। २४ सितम्बर १८६० को अन्तरङ्ग-सभा में इस पर यह प्रस्ताव पास हुआ कि "सब-कमेटी ने कोई काम नहीं किया। इस लिये पुरानी कमेटी मन्सूख करके

नई कमेटी बनाई जावे।" इस नयी कमेटी ने कागज़ी योजना तो तय्यार कर दी, लेकिन कुछ काम नहीं हुआ। आर्यसमाज की इस वर्ष की वार्षिक रिपोर्ट में लिखा हैं कि "योग्य अध्यापिका के लिये यत्न किया गया। लेकिन कोशिश फलदायक नहीं हुई।"

५ जुलाई १८९१ में तीसरी बार फिर लग कर यत्न किया गया। १२ फ़ीट लम्बे और १० फ़ीट चौड़े कमरे में ८ छात्राओं के साथ काम शुरु किया गया। एक अध्यापिका और अध्यापक श्रीपति जी को शिक्षक नियत किया गया। मासिक ख़र्च १०) बाँधा गया पण्डित जी सिर्फ़ २) महीना लेते थे और अध्यापिका ४)महीना। यह यत्न चल निकला। १८९१ की आर्यसमाज की वार्षिक रिपोर्ट में शाला की उन्नति पर सन्तोष प्रगट किया गिया है। १८९२ की समाज की वार्षिक रिपोर्ट से पता चलता है कि विद्यालय अच्छी उन्नति पर था उसमें लिखा है कि "आर्य-कन्या-पाठशाला का, जो एक दिन महाविद्यालय होगा, समाचार सुनिये। इसमें ५५ कन्यायें पढ़ती हैं। एक ख़ास बात यह है कि इस पाठशाला की बहुत-सी कन्याओं ने आभूषणों को निन्दनीय समझ कर उतार दिया है।" इसी में आगे लिखा हुआ है कि "क्या हम इसी शाला पर जो प्रायमरी जमाअत तक शिक्षा देती है, सन्तुष्ट हैं। नहीं, नहीं, हम इससे कहीं आगे बढ़ना चाहते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि अधूरी शिक्षा हमारे जीवन में आर्यत्व का संचार नहीं कर सकती। इस बात को विचार कर जालन्धर आर्यसमाज कन्या-महाविद्यालय कायम करना चाहता है और

कायम करेगा भी। विरोधरूपी तूफ़ान के रहते हुये भी हम स्त्री-शिक्षा की नौका को उस पार पहुँचायेंगे।"

जालन्धर-आर्यसमाज की यह महत्वाकांक्षा किस रूप में कैसे पूरी होती हैं और दो-तीन बार विफल हो कर भी कन्या पाठशाला कैसे महाविद्यालय बन जाती है, इसका स्वतन्त्र रूप से विवेचन करना अधिक अच्छा होगा।

४—विकास

वट का वृक्ष छोटे से बीज से अंकुर रूप में प्रगट होता है और जब वह सिर ऊपर उठा कर बढ़ना शुरू करता है तो एक दिन उसकी शाखा-प्रशाखायें चारों ओर फैल जाती हैं। वह विराट् रूप धारण कर संसार को आश्चर्य में डाल देता है। यही स्थिति 'कन्या-पाठशाला' की हुई। उसकी उन्नति या प्रगति को दिखाने के लिये सब से अधिक उपयुक्त शब्द 'विकास' है। उसकी उन्नति उसकी आन्तरिक शक्तियों के विकास से स्वतः ही हुई और वह विकास भी बिलकुल स्वभाविक तौर पर अपने आप हुआ था। पाठशाला की स्थापना के सवा साल बाद १५ अप्रैल १८९२ को श्री मुन्शीराम जी के प्रस्ताव और लाला देवराज जी के समर्थन पर जालन्धर-आर्यसमाज की अन्तरंग-सभा ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसने उत्तर भारत के स्त्री-शिक्षा के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया। अब तक प्रायः समस्त कन्या-पाठशालाओं में प्रायमरी तक ही शिक्षा दी जाती थी। कन्याओं की उच्च शिक्षा के लिये उत्तर-भारत में कहीं भी कुछ भी प्रबन्ध नहीं था। जालन्धर-आर्यसमाज ने भी देवराज जी और श्री मुन्शीराम जी की प्रेरणा से यह निश्चय किया कि कन्याओं को उच्च शिक्षा देने के लिये जालन्धर में एक 'कन्या-

महाविद्यालय' की स्थापना की जाय, जिसके साथ एक छात्रालय अथवा आश्रम का और विधवाओं के लिये भी विशेष प्रबन्ध किया जाय। उसके लिये उपयुक्त योजना और नियम-उपनियम आदि बनाने के लिए एक उप-समिति बनाई गई। उप-समिति की बहुत-सी बैठकें हो कर एक प्रस्तावित योजना तय्यार की गई और शिक्षा विशेषज्ञों के पास सम्मति के लिये भेजी गई। निम्नलिखित सज्जनों ने अपनी सम्मति से आर्यसमाज-जालन्धर को उपकृत किया,- जस्टिस महोदय गोविन्द रानडे, 'इण्डियन मिरर' के सम्पादक श्री नरेन्द्रनाथसेन, श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, पण्डिता रमाबाई सरदार रामसिंह सीनियर इन्स्पैक्टर आफ़ स्कूल्स, लाला लालचन्द्र, लाला (अब 'महात्मा') हंसराज जी, श्रीमती हरदेवी जी और मैसूर के दीवान श्री अयंगर। अयंगर साहब ने अपनी सम्मति तार से भेजी थी। उसमें उन्होंने लिखा था कि "स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में भेजी गई आपकी योजना राष्ट्रीय ढंग की है। धार्मिक शिक्षा का समावेश अत्युत्तम है, जो भारतीय स्त्रियों में "ज्ञान और आत्म-विश्वास दोनों पैदा करेगा। आपने जो तफ़सीलात तजवीज़ किये हैं, वे वहीं हैं, जिन पर मैं स्त्री-शिक्षा के मैदान में दस साल तक सख्त मेहनत के बाद पहुँचा था।"

इन सम्मतियों को सामने रख प्रस्तावित योजना पर विचार करने के लिये एक और विशेष कमेटी नियत की गई। उसकी २१ बैठकें हुईं। ३ मई १८९३ को वह प्रस्तावित योजना उचित संशोधनों के साथ पास हो गई। उसको जनता के सामने पेश

करने आर्थिक सहायता के लिये अपील करना तय हुआ। अपील का प्रकाशित होना था कि विरोध का तूफ़ान उमड़ पड़ा। लाहौर के दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज की शिक्षा-पद्धत्ति को लेकर आर्यसमाज में जो गृह्-कलह सन् १८६१-६२ में हुई थी, उसका कुछ बुरा परिणाम महाविद्यालय को भी भोगना पड़ा। कालेज वाले महाविद्यालय के लिये की जाने वाली अपील पर घबरा उठे। उन्होंने ख्याल किया कि आर्यसमाज को कालेज की ओर से अपनी ओर आकर्षित करने के लिये जालन्धर वालों ने यह चाल चली है। उस गृह-कलह में मुन्शीराम जी महात्मा-पार्टी के महारथी अर्जुन थे। और लाला देवराज जी सारथी श्रीकृष्ण। इस लिये उनका हर एक कार्य कालेज पार्टी की आँखों में चुभता था। उनकी हरएक हरकत को वे सन्देह की दृष्टि से देखा करते थे। महाविद्यालय की इस योजना पर उनके मुख-पत्र 'आर्य गज़ट' ने बम्बार्डमेण्ट करना शुरू कर दिया। योजना की आड़ में पाठशाला पर भी हमला किया गया। और तो और, स्वनामधन्य लाला लाजपतराय जी और महात्मा हंसराज जी ने योजना और पाठशाला के विरोध में कलम उठाई और कई लेख लिखे। "सद्धर्म प्रचारक" में लाला देवराज जी और मुंशीराम जी उन लेखों का जवाब दिया करते। कालेज वालों ने जालन्धर में एक स्कूल भी खोल दिया और स्त्री-समाज के काम में भी विघ्न डालना शुरू किया। जालन्धर आर्यसमाज ने इसी समय 'दोआबा हाईस्कूल' की स्थापना की। बोर्डिंग पहिले से ही

स्थापित था। इस स्कूल और बोर्डिंग में भी देवराज जी का काफ़ी समय लगता था। कुछ समय के लिये समाज की सारी शक्ति मुकाबले के कारण इस स्कूल में लग गई। देवराज जी यह देख कर घबराये। आप को डर हुआ कि कहीं समाज स्त्री-शिक्षा के काम को न भूल जाय। इस लिये सब साथियों को नाराज़ कर के कन्या-पाठशाला के काम में लग गये और कालेज पार्टी के सिर से नख तक किये गये विरोध पर भी आपने स्त्री-शिक्षा के कार्य को जालन्धर-समाज की आँखों से ओझल नहीं होने दिया।

कालेज-पार्टी की जब कोई पेश न गई, तब आर्य-प्रतिनिधि सभा पञ्जाब में यह प्रस्ताव पेश किया गया कि कन्या-महाविद्यालय की इस प्रस्तावित योजना को दबा दिया जाय। लेकिन आर्यसमाजों का समर्थन उस प्रस्ताव को न मिला। ६८ समाजों में से केवल १४ ने उसका समर्थन किया और ५४ ने विरोध। इससे कन्या महाविद्यालय के प्रवर्तकों का हौसला बढ़ गया। और उन्होंने अपनी योजना को कार्य में परिणत करने के लिये बहुत गम्भीरता के साथ काम शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि १४ जून १८९६ को कन्या-पाठशाला ने "कन्या महाविद्यालय" का नाम धारण कर लिया। उसके प्रबन्ध तथा संचालन के लिये जालन्धर आर्यसमाज की ओर से एक सभा का संगठन किया जा चुका था। उसका नाम "कन्या महाविद्यालय मुख्य सभा" रख कर १४ जनवरी १८९६ को उसकी

रजिस्टरी करा दी गई। एक "कन्या-आश्रम" भी उस के साथ खोला गया था। इस आश्रम की आधार-शिला वैसे १८६३ में रखी जा चुकी थी। १८६३ में डेरागाज़ी खान के सुप्रसिद्ध आर्य हकीम चिम्मनलाल जो ने अपनी लड़की और बहू को जालन्धर विद्याध्ययन के लिये भेज दिया था। उनके उस उदाहरण से ही कन्या-आश्रम की स्थापना के लिये जालन्धर आर्यसमाज को प्रोत्साहन मिला। १८६४ में बाहर से तीन और कन्याओं के आ जाने से इस विचार को कार्य में परिणत करना आवश्यक हो गया। उस समय उत्तर भारत में कहीं नाम लेने तक को किसी भी स्कूल के साथ कन्या-आश्रम नहीं खोला गया था। जहाँ-तहाँ दो-तीन विधवा आश्रम ज़रूर थे। कन्या-आश्रम का खोलना और चलाना बहुत बड़ा काम था। लड़कियों के जीवन की ज़िम्मेवारी को आर्यसमाज अपने सिर पर ले कि नहीं इस पर महीनों विचार हुआ। अन्त में यह तय पाया गया कि मातृ-जाति की काया-पलट करने के लिये विद्यालय का काम काफ़ी नहीं है, उसके साथ आश्रम का होना निहायत ज़रूरी है। पतित-पावन प्रभु पर भरोसा कर जालन्धर आर्यसमाज ने इस काम के करने का भी निश्चय कर लिया। लाला देवराज जी ने बाहर से आने वाली कुछ कन्याओं को अपने परिवार के साथ रख कर जिस आश्रम की नींव १८६३ में डाली थी, आर्यसमाज ने उसकी स्थापना पाँच आश्रमवासी कन्याओं के साथ १२ अप्रैल १८६५ को की। वर्ष के अन्त तक

उनकी संख्या १६ और १८६७ में २२ तक पहुँच गई। आश्रम का उत्तरोत्तर विकास होता चला गया।

शहर में नगरनिवासियों की ओर से १८२७ में एक कन्या अनाथालय खोला गया था। १२ अक्टूबर १८६८ को उसका प्रबन्ध आर्य्य-समाज के हाथ में आ गया। आर्यसमाज ने उसको महाविद्यालय की मुख्य सभा के आधीन कर दिया। बाद में महाविद्यालय की ओर से अनाथ कन्याओं के लिए वजीफ़े रखे गए और असमर्थ एवं होनहार कन्याओं को योग्य माताएँ बनाने के महान् उद्देश्य को महाविद्यालय ने पूरा किया।

महाविद्यालय की पहिली आचार्या पण्डिता सावित्री देवी जी १६०४-५ में महाविद्यालय की ओर से प्रचार के लिए दक्षिण की ओर गईं थीं। वहाँ आप ने स्वनाम धन्य श्री कर्वे के विधवा-आश्रम का निरीक्षण किया था। वहाँ से आप अपने महाविद्यालय के लिए विधवा-आश्रम की स्फूर्ति लेकर आईं। उनकी प्रेरणा से मार्च १६०६ में महाविद्यालय के साथ 'विधवा-भवन" खोला गया।

इस प्रकार महाविद्यालय ने विकसित होकर चतुर्मुख ब्रह्मा का रूप धारण किया और चहुँमुखी विकास को ओर पूरी दृढ़ता के साथ पग उठाया। अलावा इसके विद्यालय ने एक और दिशा में भी यशस्वी काम किया। वह था विवाहित और बड़ी आयु की स्त्रियों और विधवाओं की शिक्षा। इसका श्रीगणेश देवराज जी ने अपने घर से ही किया था। आप की पत्नी श्रीमती सुन्दरी देवी रात के १२-१२ बजे तक पढ़ा करती थीं। माताजी में भी पढ़ने के

लिए ऐसी ही रुचि पैदा हो चुकी थी। विद्यालय में एक विशेष क्लास विवाहिता और बड़ी आयु की स्त्रियों के लिए खोला गया था, जो १९०४-५ तक जारी रहा और बन्द कर दिया गया। कुमारी कन्याओं के साथ विवाहिताओं का शामिल करना उचित नहीं समझा गया और विधवा-भवन बन जाने से विधवाओं की शिक्षा का सवाल महाविद्यालय के कार्यक्रम का एक प्रधान अंग बन गया।

महाविद्यालय का विकास, उन्नति और प्रगति किस तेज़ी से हुई, इसका पता कन्याओं की प्रति वर्ष बढ़ने वाली संख्या से लगता है। नीचे वर्षवार, कुछ संख्यायें दी जा रही हैं।—

	विद्यालय	आश्रम	विधवा-भवन
१८९१	८	०	०
१८९२	५५	०	०
१८९५	७७	५	०
१८९६	९९	१६	०
१८९७	१३४	२२	०
१९०२	१३८	३८	०
१९०३	१३४	३४	०
१९०४	१६६	६०	०
१९०६	१८३	८५	६
१९०७	२०३	१०५	७
१९०८	२०३	१०५	११

	विद्यालय	आश्रम	विधवा-भवन
१६०६	२४७	१५६	१८
१६१०	२६७	१६५	१६
१६१२	३६२	१५८	२६

१६१३-१४ में शहर से दो मील की दूरी पर महाविद्यालय की अपनी ज़मीन पर अपनी कुछ इमारतें बन गईं और कुछ टिनशैड डाल लिये गये। महाविद्यालय की सब संस्थायें वहाँ चली गईं। विद्यालय दो भागों में बट गया। पुराने स्थान पर नगर-विद्यालय रहा और बाहर दूसरा। इस लिये कन्याओं की संख्या भी दो स्थानों पर बट गई। लेकिन, उन्नति और विकास का क्रम वही रहा जो पहिले था। यह नीचे की संख्याओं से स्पष्ट है:—

	नगर विद्यालय	बाहर का विद्यालय	आश्रम	विधवा-भवन
१६१३-१४	१७५	२१४	१५४	२२
१६१८-१६	१६०	२००	१७०	१४
१६३०-३१	३५०	२४६	२०५	२३
१६३३-३४	३४३	३४३	१५७	१६
१६३५-३६	३४०	४५०	१६०	१०

इन संख्याओं की प्रान्त वार तालिका देखने से पता चलता है कि महाविद्यालय को शहर की सीमा लाँघ कर प्रान्तीय और प्रान्त की सीमा लाँघ कर सार्वजनिक बनने में अधिक समय नहीं लगा। 'पाठशाला' को 'महाविद्यालय' का नाम जिस उदार भावना और सार्वजनिक दृष्टि से दिया गया था, उसकी पूर्ति जल्दी ही हो गई। सन् १६०४-५ में आश्रम में जो लड़कियाँ थीं उनकी प्रान्त वार

तफ़सील निम्नलिखित थी—मध्यप्रान्त (बरार) २, राजपूताना २, युक्तप्रान्त ८, पंजाब ३४, सिन्ध ६, सीमाप्रान्त ६, और बिलोचिस्तान २, १९०८-१० में इन प्रान्त वार संख्याओं में निम्न प्रकार बढ़ती हुई—बिलोचिस्तान ६, सीमाप्रान्त ६, संयुक्त प्रान्त २७, दक्षिण हैदराबाद १, ब्रह्मा ६, राजपूताना मध्यभारत ३, सिंध २, बम्बई १, आसाम १, बंगाल १, पंजाब ६८। १९१८ में सिवा मद्रास के सभी प्रान्तों की लड़कियाँ महाविद्यालय में विद्यमान थीं। यहाँ तक कि फिजी और अफ्रीका से भी लड़कियों का आना शुरू हो गया था। महाविद्यालय भले ही विश्वविद्यालय नहीं बन सका, लेकिन उसका आन्तरिक रूप किसी भी विश्वविद्यालय से कम प्रतिनिधिक नहीं रहा था।

महाविद्यालय की शाखायें स्थान-स्थान पर खोलने के लिए उसके संचालकों को फुरसत ही नहीं मिली। पहिले तो विरोधियों के मारे नाकों दम रहा, फिर स्वतन्त्र इमारतों के बनाने का भार सिर पर आ पड़ा। और उसके बाद महाविद्यालय में ही इतनी कन्यायें आ गईं कि उनकी समुचित व्यवस्था करना भारी हो गया। हमेशा दाख़ले की कुछ न कुछ दरख़ास्तें नामंजूर की जाती थीं। 'पांचाल-पण्डिता' के अनेक अङ्कों में मोटे अक्षरों में यह सूचना प्रकाशित की गई मिलती है कि स्थानाभाव से और लड़कियों को नहीं लिया जा सकता। लाला देवराज की महत्वाकांक्षा कम से कम ६०० कन्याओं के लिए आश्रम स्थापित करने की थी। पर पैसे की कमी से आप की यह अकांक्षा पूरी न हो

सकी। इन कठिनाइयों के रहते हुए भी कुछ स्थानों की पाठशालाओं का सम्बन्ध महाविद्यालय के साथ उसके संचालकों द्वारा जोड़ा गया। सहारनपुर लुधियाना आदि की पाठशालायें महाविद्यालय की शाखा के रूप में चिरकाल तक चलती रहीं। उसके आदर्श का अनुकरण करने वाली तो कोई १२५ पाठशालायें थीं। १८१८ में १०४ पाठशालाओं में महाविद्यालय की पाठविधि का अनुकरण किया जा रहा था। उन दिनों में पंजाब का कोई ऐसा आर्यसमाज न था, जिसने जालन्धर-आर्यसमाज के उदाहरण से प्रेरित होकर कन्या-पाठशाला न खोली हो। महाविद्यालयमें शिक्षा प्राप्त कर जाने वाली अनेक लड़कियों ने भी अपने यहाँ पाठशालायें स्थापित कीं। इन सब में महविद्यालय की पाठ-विधि का अनुसरण कर यहाँ की ही पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। कुछ सरकारी पाठशालाओं में भी जिनमें हिन्दी पढ़ाई जाती थी, महाविद्यालय की ही पुस्तकें पाठ-विधि में रखी गईं। उस समय और पुस्तकें थी ही कहाँ? १९२२-२३ में लाला देवीप्रसाद जी मुन्सिफ़ की उदारता के फल-स्वरूप जोधपुर में महाविद्यालय की शाखा के रूप में एक कन्या-पाठशाला स्थापित हुई। उसके लिये आपने एक विशाल मकान और दस हज़ार का नकद दान दिया। इस प्रकार कुछ अंशों में महाविद्यालय ने 'विश्वविद्यालय' का भी रूप धारण कर लिया।

महाविद्यालय ने प्रगति के मार्ग पर अगला कदम तब उठाया, जब पिछला मजबूती के साथ जमा लिया। इसी लिये आगे बढ़ाया हुआ कदम उसे कभी पीछे नहीं लौटाना पड़ा। श्रेणियों

का क्रम प्रति वर्ष एक-एक करके बढ़ता चला गया। १६०३-४ तक नौ श्रेणियों तक पढ़ाई रही। १६०५ में दसवीं श्रेणी खोली गई। १६०७-८ में दसवीं श्रेणी में ६ लड़कियाँ थीं। १६०६-१० में कालेज की श्रेणियाँ खोली गई। पढ़ाई का क्रम किसी भी कालेज से कम नहीं था। सारी शिक्षा का माध्यम हिन्दी को रखा गया। अन्य संख्याओं की अपेक्षा महाविद्यालय में वेद-पाठ, गान, व्यायाम, सीना, पिरोना, पाक-शास्त्र और धर्म-शिक्षा विशेष विषय थे। सत्यार्थप्रकाश की परीक्षा भी निमय से होती थी। १६०४ में गान और अंग्रेज़ी की शिक्षा का क्रम शुरू किया गया। योग्य अध्यापिकाओं के अभाव में शुरू में विघ्न पड़ा, लेकिन दो-एक साल में स्थिर प्रबन्ध कर लिया गया। संस्कृत पढ़ाई का आवश्यक विषय रहा और अंग्रेज़ी ऐच्छिक। अंग्रेज़ी की पढ़ाई पाँचवीं श्रेणी से शुरू होती थी। कालेज में संस्कृत और अंग्रेज़ी विकल्प विषय थे। १६०७ से दर्ज़ी, भूगोल और विज्ञान की पढ़ाई शुरू की गई। पाक-शास्त्र का ज्ञान देने के लिये हलवाई नियत किया गया, जो कन्याओं को मिठाई बनाना सिखाता। नर्सिंग (रोगी के उपचार) की शिक्षा का १६०६ में सूत्रपात किया गया। १६१३-१४ में पाठ्य की नूतन व्यवस्था की गई, जो महाविद्यालय की अपनी मौलिक कल्पना थी। इसके अनुसार निम्न व्यवस्था की गई:--प्राइमरी के लिये-सभ्या, मिडिल के लिये--शिक्षिता, हाई स्कूल के लिये दीक्षिता और कालेज के लिये स्नातिका नाम रखे गये। १६१८ में इसमें परिवर्तन करके

५ श्रेणी तक के लिये 'सभ्या' ७ तक के लिये 'शिक्षिता', ६ तक के लिये 'दीक्षिता', १० तक के लिये 'उपस्नातिका' और १२ तक के लिये 'स्नातिका' का पद नियत किया गया। १६२० में चित्र-कला और कताई-बुनाई की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। किताबी शिक्षा के अलावा साधारण ज्ञान की बृद्धि के लिये भी काफ़ी प्रबन्ध किया गया। विद्यालय में आतुरालय, पुस्तकालय और वाचनालय की स्थापना की गई। १६०४ में "विद्यालय-मण्डली" नाम की संस्था खोली गई, जिसमें भूतपूर्व छात्रायें, स्नातिकायें, अध्यापिकायें और मुख्य-सभा के सदस्य एवं सदस्यायें भाग लेती थीं, महाविद्यालय के जन्मोत्सव पर इसकी ओर से समस्त संस्था को एक भोज दिया जाता था। और उत्तम कन्या को २५) का सुवर्ण पदक। स्त्री-समाज भी विद्यालय में खोला गया। छोटी कन्याओं के लिये "बाला समाज" १६०३ में स्थापित किया गया। बड़ी श्रेणियों की "तर्किनी संगत" नाम से एक सभा खोली गई, जो बाद में "वाग्वर्द्धिनी सभा" में परिणत हो गई। इन सब में कन्यायें हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी में व्याख्यान देने और विवाद करने का अभ्यास करती थीं। 'पर्वत-यात्रा' भी शिक्षा का एक अंग था, जिस में कन्याओं के स्वास्थ-सुधार में भी सहायता मिलती थी। उन संस्थाओं के उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाये जाते थे। बसन्त-पंचमी, दसहरा, दिवाली आदि त्यौहारों के अलावा महाविद्यालय का सालाना जलसा, उसकी स्थापना का दिवस और उसके संस्थापक लाला देवराज जी का

जन्म-दिवस विद्यालय के अपने त्यौहार थे। बाद में आचार्या सावित्री देवी और देवराज जी के मृत्यु-दिवस भी शोक-दिवस के रूप में मनाये जाने लगे। १६२२-२३ में महाविद्यालय का अपना बैण्ड-बाजा संगठित किया गया। इस प्रकार महाविद्यालय ने अपने व्यक्तित्व का विकास सर्वथा स्वतन्त्र रूप में किया। परीक्षाओं की व्यवस्था भी बिलकुल स्वतन्त्र थी।

मार्च १८६४ में सरकारी शिक्षा-विभाग की मिस फ्रैंसिसन ने परीक्षा लेने में टालमटोल किया, तो विद्यालय के सञ्चालकों ने अपनी ही स्वतन्त्र परीक्षा लेनी शुरू कर दी। और १६३२ तक यह क्रम जारी रहा। संस्कृत की परीक्षा के लिये बीच में यत्न किया गया। उसका विशेष कारण था। स्त्रियों और शूद्रों को वेद और संस्कृत पढ़ने का अधिकारी नहीं माना जाता था। देवराज जी चाहते थे कि वे संस्कृत की बड़ी से बड़ी परीक्षा महाविद्यालय की कन्याओं को दिलावें। १६१२-१३ में प्राज्ञ परीक्षा में ५ कन्यायें भेजी गईं। पाँचों बहुत शान के साथ पास हुईं, जबकि दो सौ परीक्षार्थियों में से केवल ६५ पास हुए थे। १६१३-१४ में कुमारी सत्यवती को शास्त्री परीक्षा के लिये भेजा गया। पञ्जाब विश्व-विद्यालय से सारे पञ्जाब में यह परीक्षा पास करने वाली पहिली महिला या कन्या सत्यवती थी। १६३२ से मैट्रिक, रत्न, भूषण, प्रभाकर और प्राज्ञ आदि परीक्षाओं का क्रम शुरू किया गया है। एफ० ए० तक की पढ़ाई का प्रबन्ध था। बा० ए० का प्रबन्ध १६३७ में किया गया है और

महाविद्यालय की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर एम० ए० तक की पढ़ाई की व्यवस्था करने की सञ्चालकों की इच्छा है।

महाविद्यालय के विकास में उस स्त्री-शिक्षा-उपयोगी साहित्य का भी अपना विशेष स्थान है, जिसका निर्माण उसके निमित्त से देवराज जी ने ही किया था। शिक्षा के क्षेत्र में महाविद्यालय के समान साहित्य के क्षेत्र में भी आपकी देन बहुत महान् और असाधारण है। उसका दिग्दर्शन अगले पृष्ठों में स्वतन्त्र रूप में किया जायगा। यहाँ महाविद्यालय के सम्बन्ध से यह बताना ज़रूरी है कि उसका प्रारम्भ किस प्रकार हुआ? महाविद्यालय के लिये उपयुक्त पुस्तकों का अभाव प्रतीत होने पर उसकी पूर्ति के लिये जनता से १६०३ में ७ हज़ार रुपये की भिक्षा मँगाने का निश्चय किया गया। २५) और १२॥) को दो प्रकार की रसीद पुस्तकें छापी गई। २५) की १८१ और १२॥) की २० पुस्तकें लोगों में बाँटी गई, लेकिन १६०३ से १६१० तक ३६००) से अधिक इस मद में जमा नहीं हुआ। १६०३ में ११ और १६०४ में २८ छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित की गईं। हर साल पुस्तकों की संख्या में वृद्धि होती गई। सब पुस्तकें करीबन ४ दर्जन प्रकाशित की गई होंगी। इसके लिये एक "साहित्य उपसमिति" बनाई गई। १६०६ में ५२६३), १६०८ में २४४८) और १६१४ में ८७३१) की पुस्तकें बिकीं। महाविद्यालय को १६०५-६ में २५०), १६०८-१० में २६०), १६१२-१३ में ११३३) और १६१३-१४ में १६३१) की नक़द आमदनी हुई।

महाविद्यालय की कन्याओं, श्रेणियों और कार्यक्षेत्र के बढ़ने के साथ-साथ इमारत की ज़रूरत भी बढ़ती चली गई 'ज़नाना स्कूल' और 'गर्ल्स स्कूल' के यत्न में विफल होने के बाद विद्यालय अथवा महाविद्यालय और आश्रम का काम किराये के मकान में शुरू किया गया था। महाविद्यालय के विकास में उसमें पढ़ी हुई कन्याओं की भक्ति एवं उत्साह से जो अपूर्व सहायता प्राप्त हुई है, वह उसके इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखी जाने के योग्य है। १६०३ में कन्या परमेश्वरी ने अपने पिताजी से थापरों के मुहल्ले में स्थान दिलवाकर महाविद्यालय को पढ़ाई के लिये अपना स्थान बनाने का अवसर प्राप्त कराया, लेकिन आश्रम किराये के मकानों में रहा. जिन पर साल में ८०० रुपये से भी अधिक किराये में खर्च होने लगा। हर साल बढ़ती हुई ज़रूरतें किराये के मकानों से पूरी नहीं हो सकती थीं। विद्यालय, आश्रम, अनाथालय और विधवा-भवन सब को एक मकान पर रखना ज़रूरी था। शहर में हैज़ा प्लेग आदि संक्रामक बीमारियाँ फैलने पर बहुत कष्ट उठाना पड़ता था। १६०३-में हैज़े से चार कन्याओं का देहांत भी हो गया था। ११०६-१० में शहर से दो मील की दूरी पर १८ घुमा ज़मीन खरीद ली गई। इमारतों के लिये ३ लाख की अपील की गई। ५००) के कमरे बनवा देने का विचार उदार जनता के सामने रखा गया। "मन्दिर उपसमिति" बना कर इमारत का काम उसको सौंप दिया गया। यथेष्ट सहायता तो नहीं मिली, लेकिन जो भी सहायता मिली, उसके सहारे काम शुरू कर दिया गया। महाराज

कपूरथला के हाथों से वहाँ इमारतों की आधार-शिला रखवाई गई। १६१३-१४ तक कुछ इमारत बन गई और बाकी में अस्थायी प्रबन्ध करके महाविद्यालय की समस्त संस्थाएँ वहाँ एक स्थान पर ले जाई गईं। महाविद्यालय के विकास का एक चरण या युग पूरा होकर दूसरा यहाँ से शुरू होता है। आधार-शिला रखने के समय वहाँ महाविद्यालय का विशाल-भवन बन सकने में लोगों को सन्देह था। लोग सशंकित हृदयों से महाविद्यालय के संचालकों से पूछते थे कि "क्या वहाँ मरुभूमि में महाविद्यालय बसाया जा सकेगा ?" एकमात्र प्रभु पर भरोसा रखने वाले संचालकों के विश्वासी हृदय कहते थे कि इसी मरुभूमि में महाविद्यालय का पौदा स्वतन्त्र वातावरण पाकर फल-फूल सकेगा और वह दिन दूर नहीं,जिस दिन वहाँ तक नगर बन जायगा। "लोगों ने आश्चर्य के साथ देखा कि वहाँ महाविद्यालय का उपनिवेश बस कर "चाचा जी का साम्राज्य" कायम होने में कुछ भी दिन नहीं लगे। जैसे-जैसे दाता मिलते गये, उपनिवेश फलता-फूलता गया। १६१६ में माता काहनदेवी जी के स्मारक में वहाँ देवराज जी ने 'अतिथि-गृह' बनवाया। १६२२-२३ में ४० हज़ार की लागत से आचार्या सावित्री देवी जी की स्मृति में 'विधवा-आ . म' के लिये'सावित्री-भवन' बनवाया गया। उस देवी का इससे अधिक सुन्दर और उपयुक्त स्मारक दूसरा हो नहीं सकता था। उसी की प्रेरणा पर महाविद्यालय ने इस परम पवित्र काम को अपने हाथों में लिया था। १६३२-३३ में "कृष्णा हाल' बनाया गया, जो महाविद्यालय की अन्यतम सेविका विधवा कृष्णा

देवीजी की पुनीत स्मृति में उन्हीं की वसीयत के ३८२६ रुपयों से बनाया गया था। अभी-अभी श्रद्धेय देवराज जी की स्मृति में एक विशाल इमारत बनाई गई है, जिसका उद्घाटन महाविद्यालय की 'स्वर्ण-जयन्ती' पर किया जायगा। इस प्रकार उजाड़ प्रदेश में शिक्षा के उस केन्द्र की स्थापना हुई, जो पंजाब का गौरव और स्त्री- शिक्षा के प्रेमियों का तीर्थ-स्थान बन गया।

उस उपनिवेश की एक-एक चीज में मौलिकता थी और वह मौलिकता महाविद्यालय के स्वतन्त्र अस्तित्व की साक्षी देने वाली थी। उसके मकान, बगीचा, बगीचे की सड़कें कुंज एवं पेड़ और उसमें चहचहाने वाली 'हो मण्डली' आदि सभी कुछ इस दुनिया के लिये नूतन था और अपने संस्थापक महापुरुष की अनोखी कल्पना का परिचय देने वाला अलौकिक दृश्य था। काहन-चक्र, सावित्री-पाली, रेमल-कुञ्ज, श्री निकेतन आदि से उन पुण्यात्माओं का स्मरण हर रोज़ ताज़ा बना रहता था, जिनकी त्यागमय सेवा की नोव पर उस उपनिवेश की स्थापना की गई थी। इसी प्रकार राजर्षि गोखले, लोकमान्य तिलक, पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय, महात्मा गान्धी आदि के स्मारक की सड़कें और कुंज कन्याओं के हृदयों में देश-सेवा और देश-भक्ति की उच्च भावनायें पैदा करने को बस थे।

इस साम्राज्य की स्थापना का आरम्भ कितनी पूंजी से किया गया था, यह पाठकों से छिपा नहीं है। मार्च १८६३ से आर्य समाज में 'आटा फ़ण्ड' की आमदनी विद्यालय के लिये ख़र्च

करनी स्वीकार की। फिर "रद्दी फ़ण्ड" की आमदनी भी उसी के लिये की जाने लगी। दीखने में 'रद्दीफ़ण्ड' एक मज़ाक़ मालूम होता है, लेकिन इससे विद्यालय को बहुत सहारा मिला। आर्य समाज, जालन्धर की उन दिनों की रिपोर्टों से पता चलता है कि ये फ़ण्ड उसकी आमदनी के अच्छे साधन थे। "रद्दी फ़ण्ड" के प्रबन्ध के लिये आर्य-सभासदों में से एक को मैनेजर नियुक्त किया जाता था। ३० सितम्बर १८६२ की अन्तरंग-सभा में उसके कर्तव्य-विस्तार के साथ नियत किये गये थे। उनमें एक यह था कि यदि कोई किताब अश्लील और भ्रष्ट हो तो उसको इस हालत में बेचा जाय कि पढ़ा न जा सके। अगस्त १८६७ में देवराज जी ने समर्थ लोगों के घरों में विद्यालय के लिये दान-पात्र रखने का निश्चय किया। अपने भाई भक्तराम जी के घर से उसका प्रारम्भ किया। इसी वर्ष की १८ सितम्बर की डायरी में आपने लिखा है कि "महाविद्यालय को बाहर से बहुत सहायता मिलती है। अफ़सोस है कि धन जमा करने के लिये काम करने वाले बहुत कम हैं।" फिर २१ सितम्बर में लिखा है कि "अनाथालय के लिये बाज़ार में भिक्षा माँगी। चौधरी साहबदयाल चौधरी रलाराम और लाला अमृतसरायामल मेरे साथ थे। बाज़ार के लोगों ने काफ़ी मदद दी। बजाज़ों ने कपड़े दिये।" सारांश यह है कि देवराज जी को ही विद्यालय के लिये गले में झोली डाल कर उसके लिये भिखारी का भी काम करना पड़ता। १८८५ की १८ अप्रैल को आपने आर्यसमाज के मन्त्री-पद से छुट्टी लेकर

अपने को सर्वतोभावेन विद्यालय के ही काम में लगा दिया। अब तो हज़ारों और लाखों का चन्दा भी सहज में हो जाता है, लेकिन तब आर्यसमाज को स्त्री-शिक्षा के लिये चन्दा मिलना इतना आसान नहीं था" बल्कि बहुत ही कठिन था। पर, देवराज जी तो कठिन काम करने के आदी बन चुके थे।

महाविद्यालय ने शहर और प्रान्त की सीमा पारकर जब सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया तब देवराज जी ने उसके लिये चन्दा जमा करने को दौरे करने शुरू किये और जनता से सार्वजनिक तौर पर अपीलें की जाने लगीं। सन् १८९३ में लाहौर में कांग्रस के अधिवेशन के मौके से आपने लाभ उठाया। वहाँ विद्यालय के सम्बन्ध में साहित्य बाँटा और चंदा भी जमा किया। १८९९ में देवराज जी ने सीमाप्रान्त का दौरा किया। उनके इस दौरे में रावलपिण्डी, कोहाट, बन्नू, डेराइस्माइल खां, खरड़, मुज़फ्फ़रगढ़ और मुलतान आदि गये। सभी जगह स्त्री-शिक्षा पर भाषण दिये और विद्यालय के लिये चन्दा जमा किया। डेपूटेशन भी चन्दा जमा करने लिये जाने लगे। समाजों के उत्सवों और डेपूटेशनों पर देवराज जी स्वयं तो जाते ही थे, अध्यापकों एवं अध्यापिकाओं और उनके साथ कन्याओं को भी भेजा जाने लगा। लाहौर, लायलपुर, लुधियाना आदि आस-पास तो आप प्रायः जाते ही थे। १९०८ में आपने पण्डिता सावित्री जी के साथ कराची का दौरा किया। वहाँ गुलामहुसेन खलीकदीन हाल में आप दोनों के भाषण हुये।

जनता पर अच्छा असर पड़ा और दो हज़ार का चन्दा हुआ। इसी वर्ष सितम्बर मास में युक्त प्रान्त और बरार का दौरा किया गया। सहारनपुर से २२५, आगरा से १४४७, ग्वालियर से ६००, अकोला से १८०० रु० का चन्दा हुआ। सभी स्थानों पर भाषण भी हुये। अकोला में सेठ रामधन जी खेतान ने अच्छी सहायता की। उक्त शहरों के अलावा अमरावती, मलकापुर आदि शहरों में भी डेपूटेशन ने दौरा किया। इस दौरे के बाद देवराज जी ने एक पत्र-प्रतिनिधि से कहा था कि "शिक्षित लोग कहीं भी स्त्री-शिक्षा के विशेष विरोधी नहीं हैं। अशिक्षित जनता इस सम्बन्ध में उदासीन है। शिक्षित लोगों में स्त्री-शिक्षा के प्रति प्रेम बढ़ रहा है।" १६१३ में कुमारी लज्जावती जी के साथ देवराज जी ने युक्त प्रान्त और कलकत्ता का दौरा किया था। कलकत्ता से १० हज़ार, कानपुर से ३ हज़ार और इलाहाबाद से २ हज़ार चन्दा हुआ था। अप्रैल १६१६ में आप सिन्ध और अगस्त में मुज्जफ्फनगर गये। १६१७ में पंजाब में बहुत काम किया गया। कुमारी लज्जावती अपनी ५० हज़ार की प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये दौरे पर रहीं। अधिकाँश दौरे में देवराज जी ने भी उनका साथ दिया। देवराज जी ने इस दौरे के बारे में अपनी डायरी में लिखा है कि "पंजाब में इतना प्रचार पहिले कभी नहीं हुआ।" इसी दौरे में आप कोटा भी गये। सितम्बर में कराची पर फिर धावा बोला गया और लज्जावती जी के भाषणों ने इस बार वहाँ तहलका मचा दिया।

करीब चार हज़ार रुपये के वहाँ चन्दा हुआ। वर्ष के अन्त में आप कलकत्ता गये। वहाँ आर्यसमाज के उत्सव के अलावा इण्डियन सोशल कान्फरेंस में भी शामिल हुये। लज्जावती जी का भाषण कान्फरेंस में बहुत पसन्द किया गया। श्रीमती सरोजिनी नायडू से विद्यालय में आने का आपने वचन लिया। जनवरी १६१८ में लज्जावती जी को ५० हज़ार रुपया जमा करने की प्रतिज्ञा पूरी हो गई। इस पचास हज़ार के अलावा तेईस हज़ार रुपये इस वर्ष विद्यालय को और मिले। १६२४ के नवम्बर मास में आप फिर लम्बे दौरे पर बिदा हुये। इस बार आपके साथ चिरञ्जीव गन्धर्व की पत्नी लक्ष्मी देवी, शन्नोदेवी जी, और बृजवाला थीं। हिसार से चौधरी (अब 'सर') छोटूराम जी के यहाँ गये। उनसे विद्यालय के लिये ५ हज़ार लिया। वहाँ से देहली होते हुये कलकत्ता और कलकत्ता से वर्मा गये। वर्मा में ६४ दिन रहे और सारा वर्मा छान डाला। सब बड़े बड़े शहरों में घूम गये। हर जगह व्याख्यान हुये और चन्दा भी हुआ। लौटते हुये आप बोलापुर शान्ति-निकेतन के दर्शन करने गये।

इन डेपूटेशनों के अलावा विद्यालय के उत्सव पर भी अच्छा चन्दा हो जाता था और विद्यालय की लोक प्रियता एवं आकर्षण भी इतना बढ़ गया था कि रुपया स्वयं भी थोड़ा-बहुत धनी मानी लोग भेजते रहते थे। कपूरथला महाराज पहिले २५) महीना देते थे। फिर उन्होंने ५०) महीना देना शुरू कर दिया। फिर

यह रकम १५०) कर दी गई एक बार एक साथ उन्होंने एक हज़ार रुपया भी दिया था। कपूरथला से मिलने वाली १८००) वार्षिक की यह सहायता गत वर्ष के अक्तूबर मास से बन्द हो गई है। विद्यालय की नई भूमि और इमारतों के लिये ३ लाख की अपील प्रकाशित की गई थी। तीन लाख तो नहीं मिला लेकिन इस निमित्त से भी अच्छी बड़ी रकम जमा हो गई थी। जनता की इस उदार सहायता एवं सहयोग से स्पष्ट है कि विद्यालय के विकास के साथ साथ उसकी लोकप्रियता और आकर्षण में भी उत्तरोत्तर उन्नति होती गई।

महात्मा गान्धी के समान देवराज जी का भी यह मत था कि जनता के दान पर चलने वाली संस्थाओं के पास स्थिर फ़ण्ड नहीं होना चाहिये। १६२२-२३ का महाविद्यालय की रिपोर्ट में लिखा है कि 'कन्या महाविद्यालय' के बानी लाला देवराज जी का यह विचार रहा है कि जिन संस्थाओं के पास बड़े स्थाई कोष हो जाते हैं, उनको लोगों की सहायता की इतनी परवा नहीं रहती और वे लोगों की राय का ध्यान नहीं रखते। इसलिए विद्यालय को स्थिर कोष की ज़रूरत नहीं है। उसको लोगों की रुचि और इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। वह स्वयं ही उसकी सहायता करेगी।" यही वजह थी कि आप के साथी स्थाई कोष की बात कहते तो आप उसे अनसुना कर देते थे। आप ने कभी भी स्थिर कोष के लिये यत्न नहीं किया। जितनी ज़रूरत होती, जनता के सामने झोली पसार कर उसे पूरा कर लेते। अपने 'मिशन' पर

विश्वास रखने वाला कभी भी धन की चिन्ता नहीं करता और उसे अपने जीवन का लक्ष्य नहीं बनाता। देवराज जी को अपने मिशन पर इतनी अगाध श्रद्धा और गहरा विश्वास था कि आपने पैसे की कभी चिन्ता ही नहीं की।

आपके आत्म-विश्वास की एक घटना आपकी डायरी में दर्ज है। १६२४ के नवम्बर मास में बर्मा जाने से पहले आप चौधरी छज्जूराम जी के पास हिसार गए थे। उसका वर्णन करते हुये आप १२ नवम्बर की डायरी में लिखते हैं कि "मैंने और देवियों ने ६ से १० तक मौन साधन किया। अपने भगवान् को याद करके बल प्राप्त किया। बाद में चौधरी छज्जूराम जी से दान व सहायता के बारे में बातचीत की। उनसे बातचीत करने से पहिले मेरे आत्मा ने कहा कि आप ५०००) देंगे। मैंने एक दिवार पर ५०००) लिख भी दिये। चौधरी ने १०००) से बात शुरू की और लड़कियों के आग्रह पर ५०००) पर आप आकर रुक गए और बोले कि अब आगे नहीं बढ़ूंगा। मैंने कहा हाँ आपने इतना ही देना था। लड़कियों ने पूछा कि कैसे, तो मैंने उनको दीवार पर ५०००) लिखा हुआ दिखा दिया। कन्याओं को आश्चर्य हुआ और मुझे विश्वास हो गया कि इस प्रकार की घटना शुद्ध प्रार्थना के फल से ही हो सकती है। ऐसे मौन साधन और ईश-प्रार्थना में आपका विशेष विश्वास था। बर्मा की यात्रा और अन्य दौरों पर भी आपने इसका अवलम्बन किया था।

स्थिर फ़ण्ड के लिए तो आप ने कोई विशेष यत्न नहीं किया,

किन्तु साथियों के आग्रह को मान कर आपने दो योजनायें तय्यार कीं। एक थी इक्कीसी जत्थे की और दूसरी बारही दल की। पहिले का मतलब था कि २१) प्रतिवर्ष देने वाले एक हजार दाता तय्यार कर लिये जाँय और दूसरे का मतलब था १२) प्रतिवर्ष देने वाले पांच सौ सज्जन तय्यार किये जाँय। इक्कीसी जत्थे से महाविद्यालय का खर्च पूरा किया जाय और बारही दल से विधवा-भवन का। लेकिन इनके संगठन के लिये लगकर यत्न नहीं किया गया और यह योजना पूरी तरह कार्य में परिणत नहीं हुई।

वैसे महाविद्यालय की उन्नति और विकास का अधिकांश श्रेय उसकी कन्याओं और अध्यापकों को है जिनके प्रेम, उत्साह और भक्ति की कहानी आगे के पृष्ठों में अङ्कित की जायगी।

५—प्रबन्ध व व्यवस्था

महाविद्यालय के प्रबन्ध और व्यवस्था के लिये आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब की स्वीकृति से जालन्धर-आर्यसमाज की ओर से १८९५ में 'कन्या महाविद्यालय मुख्य सभा' का सङ्गठन किया गया था, जिसकी कानून १८६० की धारा २१ के अनुसार १४ जनवरी १८९६ को रजिस्ट्री करा दी गई थी। इस सभा का चुनाव हर चौथे बर्ष होना था। सभा का संगठन करते हुये महाविद्यालय के अखिल भारतीय रूप धारण करने किंवा उसके एक विशाल विश्व-विद्यालय बनाने का ध्यान पहिले ही रखा गया था। इसी लिये मुख्य सभा में सब प्रान्तों की प्रतिनिधि सभाओं के प्रधानों को बिना किसी शर्त के ले लिया गया था और नियत चंदा देकर आजीवन सदस्य बनने वालों किंवा नियत चंदा देकर प्रतिनि-धित्व का अधिकार प्राप्त करने वाली आर्यसमाजों के लिये प्रान्त की कोई शर्त नहीं रखी गई थी। कालेज-पार्टी से सैद्धान्तिक मत-भेद होने पर भी उसकी मैनेजिंग कमेटी के प्रधान को भी उस में लिया गया था। स्त्रियों के लिये भी कोई रुकावट नहीं रखी गई। थी। लेकिन १९०४ तक कोई महिला उसकी सदस्या नहीं थी। जालन्धर की स्त्रीसमाज ने चंदे की नियत राशि देकर १९०४ में

अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार महिलाओं की संस्थाओं में सबसे पहिले प्राप्त किया था और आश्रम की अधिष्ठात्री श्रीमती सुभद्राबाई को मार्च १६०४ में मुख्य सभा के लिये अपना प्रतिनिधि चुना था। मुख्य-सभा की आप ही सबसे पहिली महिला-सदस्या थीं। उन दिनों में मुख्य-सभा के २० सदस्य थे। १६१० में मुख्य सभा के ३६ सदस्यों में से ६, १६२२-२३ में २१ में से १० और दोनों उपप्रधाना महिलायें थीं। १६३३-३४ में २६ में १५ और १६३४-३५ में ४२ में १७ महिलायें उसकी सदस्यायें थीं। आर्यसमाज के प्रतिनिधित्व के लिये पहिले २०० रु० और आजीवन सदस्यों के लिये ३०० रु० नियत था। यह राशि बाद में बढ़ा दी गई। कुछ प्रतिष्ठित सभासद् भी उसमें लिये जाते थे। मुख्य सभा में से एक प्रबन्ध-कर्तृ-सभा का चुनाव भी हर चौथे वर्ष होता था। प्रधान, उपप्रधान, मन्त्री, एकाउण्टेण्ट और खजानची मुख्य सभा के पदाधिकारी होते थे। देवराज जी और लाला (अब रायबहादुर दीवान) बद्रीदास जी एम. ए. चिरकाल तक प्रधान और मन्त्री रहे। १६०६-१० में लाला जेठामल जी वकील, १६२२-२३ में लाला खैरातीराम जी वकील और १६३४-३५ में लाला कर्मचन्द जी मित्तल वकील मन्त्री नियुक्त रहे। प्रधान-पद पर अधिकतर लाला देवराज जी ही रहे। १६१४-१५ में लाला बद्रीदास जी, १६२२-२३ में लाला जेठामल जी, फिर लाला कर्मचन्द जी वकील प्रधान रहे। इस समय लाला देवराज जी के देहावसान के बाद से राय बहादुर दीवान बद्रीदास जी प्रधान हैं। प्रबन्ध-कर्तृ-सभा के

अधीन यथा समय उपसमितियाँ भी बनाई जाती रहीं। १९०३-४ में चार उमसमितियाँ थीं, जिन्हें शिक्षा, आश्रम, साहित्य और निधि की व्यवस्था का काम सौंपा गया था। १९०९-१० में शहर के बाहर महाविद्यालय की इमारतों के निर्माण के लिये 'मन्दिर-उपसमिति' का संगठन किया गया था।

आन्तरिक-प्रबन्ध की देख-रेख का सारा भार चिरकाल तक देवराज जी के सिर पर रहा। अपनी माता और धर्मपत्नी से इस काम में आप को निरन्तर सहायता मिलती रही। यह कार्य कितना श्रम-साध्य था, इस बारे में देवराज जी ने १८९८ की डायरी में एक जगह लिखा है कि 'आश्रम खोलने के समय मैं नहीं जानता था कि इतना काम करना पड़ेगा। लेकिन, काम बहुत भारी निकला। पहिले तो लड़कियों को तालीम की, दूसरे उनकी सेहत की, तीसरे उनकी रक्षा की, चौथे उनमें सद्गुण पैदा करने की और पाँचवें उनके लिये वस्त्रादि सब सामान मुहय्या करने की फिक्र सदा ही सिर पर सवार रहती थी। मुझ में इतनी शक्ति नहीं कि यह सब काम कर सकूँ। श्रीमती जी और माताजी बहुत सहायता करती हैं या ईश्वर पर ही भरोसा है। उन्हीं के भरोसे पर यह काम शुरू किया गया है।" इसी प्रकार एक और जगह लिखा है कि "अनाथालय की कन्यायें पहिले की अपेक्षा अब बहुत सुशील बन गई हैं। अफ़सोस है कि मैं उनके लिये ज्यादा समय नहीं दे सकता। यह भी अफ़सोस है कि स्त्रियें सहायता नहीं देतीं। सुन्दरी पर तो मुझे अभिमान है। उसका

सारा समय आश्रम में लगता है। उनकी ये ख़बरगीरी रखती है। स्त्री समाज की तो ये प्राण हैं।"

१८९९ के अक्तूबर मास में देवराज जी हरियाना से माई भगवती जी को ले आये, जिन्होंने जात-बिरादरी और भाई-बन्द के विरोध एवं अपमान की तनिक भी परवा न कर आश्रम को सँभाल लिया। पर, आश्रम का काम तो बढ़ता जाता था। देवराज जी ने कई बार विचार किया कि माता जी को आश्रम की अधिष्ठाता बना दिया जाय। लेकिन, लोग पहिले ही यह आक्षेप कर रहे थे कि देवराज जी महाविद्यालय को अपने घर की चीज़ बनाते जा रहे हैं। वैसे बिना अधिष्ठाता हुए भी उनकी सेवा का लाभ तो आश्रम को मिल ही रहा था। १९०२ में दक्षिण हैदराबाद की सरहद पर स्थित अकोला ज़िले के पातुर की निवासिनी श्रीमती सुभद्राबाई जी अपने पति श्री शिवरत्नसिंह के साथ महाविद्यालय में आ गईं और आप दोनों ने अपने को महाविद्यालय की सेवा में लगा दिया। श्रीमती सुभद्राबाई जी १९२० तक पूरी तत्परता के साथ अपने कर्तव्य का पालन करती रहीं। बाद में पति के देहान्त के कारण पातुर चली गईं। आश्रम में लड़कियों की संख्या जैसे बढ़ती गई, वैसे ही महिला-अधिष्ठाताओं की संख्या भी बढ़ती गई और सुभद्राबाई जी उन सब के ऊपर निगरानी रखने लगीं।

१९१३-१४ में शहर से बाहर महाविद्यालय की सब संस्थाओं के एक स्थान पर चले जाने के बाद प्रबन्ध की नई व्यवस्था की गई

और सब संस्थाओं के प्रबन्ध को एक सूत्र में पिरो दिया गया। पण्डिता सावित्रीदेवी जी को आचार्या नियुक्त करके सब विभागों के लिये एक-एक महिला अध्यक्षा नियत की गई। कुमारी लज्जावती जी उपाचार्या नियुक्त की गईं। स्कूल और कालेज की पढ़ाई की व्यवस्था का काम आपके सुपुर्द किया गया। सुभद्राबाई जी आश्रम की प्रधान अधिष्ठात्री नियुक्त हुईं। अनाथाश्रम की मुकुन्दीदेवी जी और विधवा-भवन की श्रीमती आशादेवी जी अध्यक्षा नियत की गईं। पण्डिता कौशल्यादेवी जी संस्कृत की प्रोफेसर नियुक्त हुईं। १९१७-१८ में सावित्रीदेवी जी के देहावसान के बाद कुमारी लज्जावती जी और उनके अस्वस्थ होकर महाविद्यालय के काम से उपराम ले लेने पर श्रीमती शन्नोदेवी जी आचार्या का काम करती रहीं। इस समय श्रीमती शान्ताबाई भाटवड़ेकर आचार्या का काम कर रही हैं। सुभद्राबाई जी के चले जाने के बाद आशादेवी जी ने अधिष्ठात्री का काम संभाल लिया। अब श्रीमती नारायणीदेवी जी आश्रम की मुख्याधिष्ठात्री हैं।

नगर विद्यालय भी मुख्य-सभा के अधीन है, लेकिन उसका आन्तरिक प्रबन्ध पृथक् है। उसको यशस्वी बनाने और दिन पर दिन उसकी उन्नति करने का सारा श्रेय श्रीमती देवकीदेवी जी को है, जिन्होंने अपने को नगर विद्यालय के साथ तन्मय किया हुआ है।

श्रद्धास्पद लाला देवराज जी के देहावसान के बाद १९३५ में

महाविद्यालय के लिये महान् संकट का काल उपस्थित हुआ। लेकिन रायबहादुर दीवान बद्रीप्रसाद जी ने मुख्य सभा का प्रधान-पद सँभाल कर महाविद्यालय को इस भारी संकट से बचा लिया। कुमारी लज्जावती जी के हृदय में भी जलविद् माता के प्रति सेवा की पुरानी भावना और श्रद्धा-भक्ति जाग उठी। अपने गिरे हुए स्वास्थ्य की भी परवा न कर आपने आकर प्रबन्ध का सारा काम सँभाल लिया। अब दीवान बद्रीदास जी और कुमारी लज्जावती जी के सुरक्षित हाथों में महाविद्यालय उन्नति के मार्ग पर अग्रसर है।
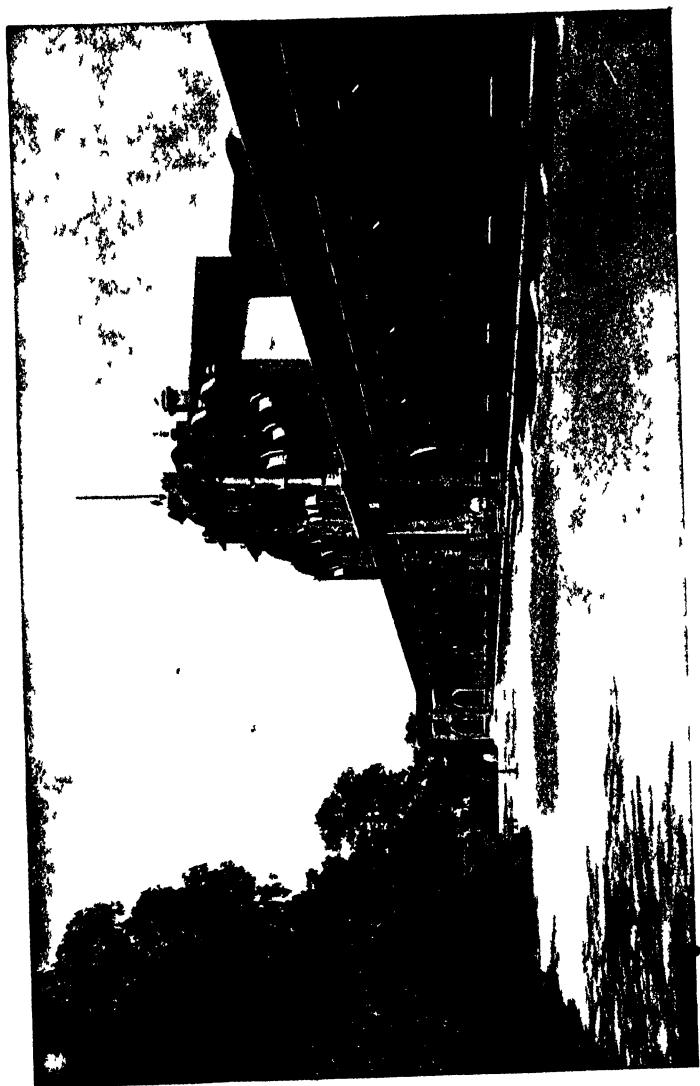
६—लोकप्रियता

महाविद्यालय के चहुंमुखी विकास के साथ साथ उसका गौरव भी चारों दिशाओं में फैलता चला गया। शहर, प्रान्त और देश की सीमा पार कर विदेशों में भी उसकी चर्चा होने लगी। दूर-दूर से शिक्षा ग्रहण करने के लिये कन्याओं का आना सहज और स्वभाविक था। वह एक ऐसा तीर्थ बन गया, जिसके दर्शन करने में लोग अपना अहोभाग्य मानने लगे। उस अद्भुत परीक्षण को, जो किसी रसायन शाला के वैज्ञानिक आविष्कार से कम आश्चर्यजनक नहीं था। देखने और उसका अध्ययन करने के लिये शिक्षा-शास्त्री और विदेशी यात्री तक आने शुरू हो गये। महाविद्यालय की लोकप्रियता की पहिली साक्षी उसकी संस्थाओं में, आश्रम, विद्यालय, अनाथालय एवं विधवा-भवन में दिन प्रति दिन कन्याओं की वृद्धि है। जिस समाज में कन्याओं को घर के बाहर की हवा और रोशनी से भी बचा कर रखा जाता था, वह अपनी कन्याओं को इस तेज़ी के साथ महाविद्यालय के अर्पण करने लगा, यह साधारण बात नहीं थी। फिर जनता ने समय समय पर महाविद्यालय पर हजारों-लाखों की जो न्यौछावरें कीं वे भी उसके प्रति सर्वसाधारण के विश्वास एवं प्रेम की निशानी

हैं। इन रकमों के देने वालों में सभी प्रान्तों और सभी सम्प्रदायों के लोग शामिल हैं। जहाँ महाविद्यालय की शिक्षा-मण्डली गई वहाँ से झोलियाँ भर कर वापिस लौटी। प्रारम्भिक दिनों में विद्यालय की सहायता करने वालों में होशियारपुर के श्री जफ़रुल्ला खाँ साहब का नाम भुलाया नहीं जा सकता। सावित्री देवी जी की स्मृति में बनाये गये सावित्री-भवन का दरवाजा महा-विद्यालय के पास के एक गाँव की मुस्लिम महिलाओं की सात्विक और उदार सहायता का जीवित स्मारक है। श्रीमती नारायणी देवी जी १९३३-३४ में अफ्रीका जा कर जब २५-२६ हज़ार की धनराशि जमा करके लाई थीं, तब आपने बड़े गौरव के साथ इस बात का उल्लेख किया था कि जलविद् माता के कार्य और गुणों पर मुग्ध हो कर अपनी थैलियों के मुँह खोलने में मुसलमान भाई हिन्दुओं से पीछे नहीं रहे। इस प्रकार महा-विद्यालय को सर्व-प्रिय बनाने या चारों ओर से लोकप्रियता हासिल करने में अधिक समय नहीं लगा। यह लोकप्रियता किसी अन्दोलन या प्रचार का परिणाम न थी, लेकिन स्त्री शिक्षा, महिला-उद्धार और सामाजिक सुधार के क्षेत्र में की गई उसकी महान् सेवाओं का आम के पेड़ में लगने वाले फलों और गुलाब के पौदों में खिलने वाले फूलों के समान सहज और स्वाभाविक परिणाम था। महाविद्यालय की कन्यायें जहाँ भी कहीं गईं, उन्होंने जलविद् माता के गौरव की विमल पताका को यत्नपूर्वक फहराये रखा। जो भी लोग महाविद्यालय में

आये, उन्हों ने उसको अपनी आशाओं और कल्पनाओं से कहीं अधिक पाया। गुरुकुल काँगड़ी में स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा किया गया शिक्षा का परीक्षण यदि गंगा की तेज़ धारा के विरुद्ध तरने के अद्भुत साहस की एक ऐसी कहानी था, जिसको सुन कर उसे देखने के लिये लोग दूर दूर से दौड़े चले आते थे, तो महाविद्यालय को लाला देवराज जी के उस अलौकिक साहस की कथा कहा जा सकता है, जो मरुभूमि में बग़ीचा लगाने या पहाड़ों की चट्टान में कुआँ खोद कर पानी निकालने के लिये किया जाता है। इस लिये उसको सुनने वाला भी महाविद्यालय को देखने के लालच को दबा नहीं सकता था।

"पंजाब-समाचार" ने १६०५ में उस वर्ष की रिपोर्ट की आलोचना करते हुये लिखा था कि "यह विद्यालय लाला देवराज जी रईस व आनरेरी मजिस्ट्रेट की देख-रेख में दिन दूनी व रात चौगुनी उन्नति कर रहा है। इस समय इस में १६६ कन्यायें शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। बड़ी उम्र वाली लड़कियों के लिए विशेष श्रेणी है। १० अध्यापिकायें व ४ अध्यापक पढ़ाने का काम करते हैं। धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ लड़कियों को गाना-बजाना, सीना-पिरोना, खाना पकाना, कसीदा काढ़ना, जुराबें, दस्ताने तथा गुलूबन्द आदि बनाना भी सिखाया जाता है। अंगरेज़ी भी पढ़ाई जाती है। दुःख है कि इस पर भी आर्य-जनता से जितनी चाहिये, उतनी सहायता नहीं मिलती।"

इसी वर्ष पंजाब शिक्षा-विभाग के डाइरैक्टर मि० डब्ल्यू० बैल एम० ए०, सी० आई० ई० ने लिखा था कि "मैंने १६०५ की २० नवम्बर को यह विद्यालय देखा। इस प्रान्त में कोई और ऐसा कन्या विद्यालय नहीं, जिसके लिये मेरे दिल में इतना आदर हो और जिसे मैंने इतना पसन्द किया हो। उसके संचालक लाला देवराज लाखों में एक हैं और उन्होंने स्त्री-शिक्षा के लिये जो काम किया है, उसकी जितनी भी तारीफ़ की जाय थोड़ी है। इस संस्था को देख कर हृदय प्रसन्न हो जाता है। इसमें सभी कन्यायें बड़ी साफ़, स्वच्छ और प्रसन्न रहती हैं। उनकी देख-भाल बहुत सावधानी के साथ बहुत अच्छी तरह की जाती है।"

श्री एलफ्रेड नन्दी सन् १६०७ में भारत के विभिन्न शहरों का दौरा करते हुये महाविद्यालय भी पधारे थे। १ फ़रवरी १६०७ के "ट्रिब्यून" में एक लेख में महाविद्यालय के सम्बन्ध में आपने लिखा था कि "मैंने सारे भारत में कन्या महाविद्यालय सरीखी अनोखी संस्था नहीं देखी। इस में परदा-प्रथा नहीं है और न ही जातिगत ऊँच-नीच का कोई भेदभाव ही रखा गया है। अतः पंजाब भाग्यशाली प्रान्त है। संस्था में प्रायः सभी प्रान्तों की लड़कियाँ पढ़ती हैं और सब का रहन-सहन एक-सा है। मैंने अनाथालय में कुछ ऐसी भी कन्यायें देखीं, जो पिछले दुर्भिक्ष में मध्य प्रान्त से लाई गई हैं। ये अनाथा बच्चियाँ उच्च जाति की लड़कियों के साथ बिला किसी भेदभाव के रहती, खेलती, उठती-बैठती और पढ़ती हैं। भारत के किसी अन्य स्कूल में मैंने ऐसा

नहीं देखा।…… ..विद्यालय में दक्षिण हैदराबाद, सीमाप्रान्त, युक्त प्रान्त और राजपूताना आदि की बहुत-सी कन्यायें हैं।" इससे विद्यालय की लोकप्रियता स्पष्ट है। विद्यालय के संस्थापक लाला देवराज जी इसके लिये बधाई के पात्र हैं।"

मद्रास से प्रकाशित होने वाले पाक्षिक पत्र "रिफार्मर" ने १६ फरवरी १६०६ के अङ्क में लिखा कि "हमारे पञ्जाबी भाइयों ने यह समझ लिया है कि देश तब तक भली प्रकार उन्नति नहीं कर सकता, जब तक कि उसकी स्त्री-जाति अज्ञान रूपी अन्ध-कूप में पड़ी हुई है। इसी उद्देश्य को सामने रखकर आर्यसमाज की ओर से जालन्धर में एक अत्यन्त उपयोगी व महत्वपूर्ण कन्या महाविद्यालय स्थापित किया गया है, जो लाला देवराज जी सरीखे महानुभावों की संरक्षकता में दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति कर रहा है। इस महाविद्यालय के पीछे देशभक्ति की अदम्य भावना काम कर रही है। अब तक कन्याओं के लिये केवल मामूली-सा पढ़ना-लिखना और गिनती गिन लेना काफी समझा जाता था, किन्तु महाविद्यालय की योजना अपने ढंग की अनोखी और अनुकरणीय है, उसकी महत्वाकांक्षायें बहुत ऊँची हैं।"

बम्बई के 'इण्डियन स्पेक्टेटर' ने १६०८ में लिखा था कि "इस संस्था में लड़कियों को केवल अंग्रेजी शब्द ही नहीं रटवाये जाते बल्कि संस्कृत, संगीत, सिलाई, पाक-विद्या, चित्रकला आदि विषयों की भी ठोस शिक्षा दी जाती है। यह संस्था अपने ढंग की अनोखी और अपूर्व है। दुःख है कि ऐसी उपयोगी और

प्रगतिशीला संस्था को भी फण्ड की कमी है।" "वैदिक मैगज़ीन" ने लिखा था कि "सारे देश में महाविद्यालय की चर्चा शुरू है।" कलकत्ता के 'इण्डियन मिरर' ने उसकी प्रशंसा में एक लेख लिखा था।

१९०७ में स्वर्गीय राजर्षि गोखले कन्या महाविद्यालय पधारे थे। कन्याओं ने 'भारत माता की जय' 'जलविद माता की जय' और 'गोखले जी की जय' के नारों से आप का स्वागत किया। महाविद्यालय का निरीक्षण करने के बाद आप ने लिखा था कि "मैंने जो कुछ भी विद्यालय में देखा उससे मुझे बहुत खुशी हुई। यहाँ बहुत ही सराहनीय कार्य किया जा रहा है। मैं हृदय से संस्था की सब प्रकार की उन्नति की कामना करता हूँ"। १९०६ में प्रान्त के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर की पत्नी श्रीमती रिवाज़ भी महाविद्यालय पधारी थीं और आपने संस्था की हार्दिक सराहना की थी।

महाराज कपूरथला ने १९०५-६ में महाविद्यालय का निरीक्षण करने के बाद कहा था कि 'मुझे संस्था को देख कर बड़ी खुशी हुई। मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि विद्यालय इतना सुन्दर काम कर रहा होगा। मुझे यह भी कल्पना नहीं थी कि हिन्दुस्तान में एक कन्या-विद्यालय इतना काम कर सकता है? लड़कियों के हँसमुख चेहरों और उनकी प्रतिभा एवं योग्यता से मैं बहुत ऊंचे भाव लेकर जा रहा हूँ।" इसी प्रकार १९१६ के अक्तूबर मास में बड़ौदा के महाराज ने विद्यालय का अवलोकन

करने के बाद लिखा था कि "मैंने गाना, वेद-पाठ और संगीत सुना। लड़कियों के संस्कृत भाषण सुन कर मैं चकित रह गया। यदि यह यत्न विस्तृत मात्रा में जारी रखा गया, तो संस्कृत मृत-भाषा नहीं रहेगी।......संस्था वास्तव में ही जनता की बहुत बड़ी सेवा कर रही है। यदि देश में ऐसे और श्री कर्वे की संस्था सरीखी बहुत-सी संस्थाएँ हों, तो स्त्री-जाति की उन्नति और उसके परिणाम स्वरूप भारत की साधारण प्रगति का दिन दूर नहीं रहेगा। संस्था के कार्य से प्रभावित होकर ही मैंने अपनी यह राय प्रगट की है।" झालावाड़ और शाहपुर के स्वर्गीय महाराज भी महा-विद्यालय से प्रेम रखते थे। झालावाड़ की ओर से महाविद्यालय को प्रतिवर्ष २०० रु० की आर्थिक सहायता मिलती रही।

१९१० में कलकत्ता–कांग्रेस के साथ हुई इण्डियन नेशनल सोशल कान्फरेंस के सभापति पद से दिये गये भाषण में श्री ए० चौधरी ने स्त्री-शिक्षा की चर्चा के सिलसिला में कन्या-महाविद्यालय के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये कहा था कि 'यह संस्था स्त्रीशिक्षा का जैसा प्रचार कर रही है, वैसा कोई दूसरी संस्था नहीं कर रही। बंगाल में तो वैसी एक भी संस्था नहीं है।'

लाहौर के "दीपक" ने १९१४ में लिखा था कि "पञ्जाब में यदि स्त्री-शिक्षा का काम करने वाली कोई सब से बड़ी संस्था है, तो जालन्धर का महाविद्यालय है। इस अत्युत्तम संस्था में केवल पञ्जाब की ही नहीं, सारे हिन्दुस्तान की कन्यायें शिक्षा प्राप्त करने के लिये आती हैं। इसके बानी-मुबानी और सरगरम

कार्यकर्ता लाला देवराज जी की निःस्वार्थ सेवाओं ने इस संस्था को भारतभर की चोटी की संस्थाओं में से एक बना दिया है।" इसी वर्ष "शरीफ़ बीबी" लाहौर की सम्पादिका अलीगढ़ जाती हुई अपने कुछ साथियों के साथ जालन्धर ठहरी थीं। आपने महाविद्यालय का निरीक्षण करने के बाद अपने पत्र की २४ अप्रैल १६१४ की संख्या में विस्तार के साथ महाविद्यालय की प्रशंसा लिखी थी और उसके अन्त में लिखा था कि "मेरी राय में यह एक अत्यन्त लाभदायक संस्था है।"

१६१३ की ११ अगस्त को पञ्जाब के लैफ्टिनेण्ट गवर्नर महाविद्यालय देखने के लिये पधारे थे। आपने महाविद्यालय के मान-पत्र का उत्तर देते हुए स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में महाविद्यालय के कार्य को अनुकरणीय बताया था और कहा था कि भारत भर में कन्या महाविद्यालय अपने ढंग की एक ही सफल संस्था है और इस के ख़ामोश कार्यकर्ताओं की जितनी तारीफ़ की जाय, थोड़ी है। आप ने २००) अपने पास से महाविद्यालय को भेंट किये। लैफ्टिनेण्ट गवर्नर के इस पदार्पण के बारे में लाहौर के "प्रकाश" ने, जो महाविद्यालय की आलोचना करने और इस पर कटाक्ष तक करने में कभी पीछे नहीं रहता था, लिखा था कि "आर्य पुरुषों ने बहुत-सा पुरुषार्थ करके कन्या महाविद्यालय को इस योग्य बना दिया है कि लोग इसे देख कर अश-अश करें। सर माइकेल ओडायर ने जिन शब्दों में उस की महिमा गाई और कार्यकर्ताओं की सराहना की है, उस को पढ़कर हर एक आर्य

पुरुष प्रसन्न होगा। आर्य पुरुषों को चाहिये कि वे काफी चन्दा देकर विद्यालय की इमारत पूरी कर दें। महाविद्यालय को आज जो शोभा प्राप्त है, उस के लिये लाला देवराज, लाला बद्रीदास और लाला ज्येष्ठामल आदि महानुभावों को हार्दिक बधाई है।"

१९१२ में महाविद्यालय की पाँच लड़कियों के पंजाब विश्वविद्यालय को प्राज्ञ की परीक्षा पास करने पर लाहौर के "अखबार-आम" ने लिखा था कि "कन्या-महाविद्यालय लाला देवराज जी की संरक्षता में बहुत उन्नति कर रहा है। यदि प्राज्ञ, विशारद और शास्त्री की परीक्षा पास करके यहाँ की लड़कियाँ निकलेंगी, तो एक दिन भारत की हिन्दू-समाज फिर संस्कृत की विद्वान् हो कर उसके मूल्यवान् ख़ज़ानों की पड़ताल करेगी।" लाहौर के "देश" ने १९ दिसम्बर १९१४ को लिखा था कि 'देश में आजकल जगह-जगह जो कन्या पाठशाला में खुल रही हैं, वह जालन्धर की कन्या-पाठशाला की कोशिशों व प्रचार का ही फल है।'

१९१२ में १६ जुलाई को दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज के आचार्य महात्मा हंसराज जी महाविद्यालय में पधारे। आपने अपनी विस्तृत सम्मति में लिखा था कि 'महाविद्यालय दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक्की कर रहा है। मैंने लड़कियों से ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका, निरुक्त, ऋजुपाठ आदि के बारे में कई सवाल पूछे। लड़कियों के जवाब सन्तोषजनक थे। सिलाई आदि का काम भी खूब अच्छा है।' पंजाब विश्वविद्यालय के वाईस चांसलर और

फ़ोरमन क्रिश्चियन कालेज के प्रिंसिपल डाक्टर सी. आर. ईविंग ने महाविद्यालय का निरीक्षण करने के बाद 'आर्य-पत्रिका' में लिखा कि 'मुझे महाविद्यालय देख कर निहायत खुशी हुई । मैंने उसके बारे में बहुत सुना था, इस लिये उसको देखने के अवसर का मैंने स्वागत किया ।......कन्याओं के चेहरे पर प्रसन्नता और प्रतिभा की झलक देख कर मेरी प्रसन्नता का पारावार न रहा । पंजाब में इसका प्रभाव बहुत अधिक है और यदि इसी उदार एवं बुद्धिमत्ता-पूर्ण सिद्धान्तों पर इस सत्साहस का संचालन होता रहा,तो उससे होने वाली भलाई का अनुमान लगाने में कोई भी भूल नहीं कर सकता ।' अन्त में धना-मानी सज्जनों का संस्था की ओर ध्यान अर्कर्षित करते हुये आपने लिखा था कि 'प्रान्त में स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देने की सर्वसाधारण की इच्छा को देखते हुये यह बताना बहुत कठिन होगा कि इससे अच्छा और कौन स्थान धन के विनियोग के लिये हो सकता है ।' सेण्ट स्टीफेंस कालेज दिल्ली के ख्यातनामा प्रिंसिपल श्री रुद्रा ने भी इसी प्रकार लिखा था कि यह विद्यालय अंगरेज़ी नमूने की नकल नहीं है । इसकी सारी बनावट भारतीय है । इसके चारों ओर आध्यात्मिकता का राष्ट्रीय वायुमण्डल है । उससे मुझे अपनी मातृभूमि के उज्ज्वल भविष्य की आशा बँध गई है । संस्था के कार्यकर्ता धुन के पक्के और निःस्वार्थ सेवा करने वाले हैं । मैंने इस संस्था में प्रान्तीयता की लेशमात्र भी गन्ध नहीं पाई । पंजाब के अलावा अन्य प्रान्तों की संस्था भी विद्यालय में शिक्षाध्ययन कर रही हैं । मेरी ईश्वर

से प्रार्थना है कि वह सदा ही संस्था की रत्ता और रहनुमाई करता रहे।' पूना महिला विश्वविद्यालय के संस्थापक श्री कर्वे ने भी १९१६ में महाविद्यालय का निरीक्षण करके इसी प्रकार उसकी सराहना की थी।

समाचार-पत्रों, महाराजाओं, सरकारी अधिकारियों और शिक्षा-शास्त्रियों के समान राष्ट्रीय नेताओं ने भी महाविद्यालय की मुक्तकण्ठ से सराहना की है। कोई ऐसा राष्ट्रीय नेता नहीं जिसने जालन्धर आकर महाविद्यालय के दर्शनन किये हों और उसकी प्रशंसा में दो शब्द न कहे हों। भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू महाविद्यालय पर मुग्ध हैं। महामना मालवीय जी का उसे आशीर्वाद प्राप्त है। लोकनायक श्रीयुत माधवराव अणे ने उसकी प्रशंसा की है। उदारचेता सेठ जमना लाल जी बजाज़ की कृपा का हाथ उसके सिर पर रहा है। बिहार-रत्न श्री राजेन्द्र प्रसाद जी ने उसे देख कर कहा था कि "इस प्रकार की कोई संस्था मेरे प्रान्त में नहीं है और न मैंने कहीं भी उत्तर भारत में देखी है।" डा० सैफुद्दीन किचलू ने उसे अभूत-पूर्व बता कर केवल गृहस्थ की दृष्टि से ही नहीं, किन्तु देश व राष्ट्र की दृष्टि से भी उसे आवश्यक और उययोगी बताया था। सीमाप्रान्त के सुप्रसिद्ध नेता श्री एस० लाला बादशाह ने भारतीय राष्ट्र की आज़ादी के मसले को सरलता के साथ हल करने का उपाय महाविद्यालय के मिशन का समस्त भारत में प्रसार करना बताया था और कहा था कि इसी उपाय से हम

भविष्य की सब समस्याओं को हल करके भारत की भावी सन्तान को उत्तम और मज़बूत बना सकते हैं। श्री सत्यमूर्ति ने महाविद्यालय के देखने के अवसर को अपने लिये अहोभाग्य बता कर कहा था कि मैंने स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी अपने बहुत से विचारों को यहाँ कार्य में परिणत होते हुये देखा। विद्यालय के कार्य, विशेषतः खुले मैदान में श्रेणियों की पढ़ाई, सादगी, गुरु-शिष्य सम्बन्ध और शुद्ध वातावरण की आपने बहुत सराहना की। मद्रास के श्रीयुत श्रीनिवास अयंगर भी महा-विद्यालय को देख कर बहुत प्रसन्न हुये थे। इसी प्रकार स्वर्गीय लाला लाजपत राय जी, प्रेसीडेण्ट पटेल, श्री अब्बास तैय्यब जी, देशबन्धु चितरंजन दास, स्वामी श्रद्धानन्द जी, आसाम के श्री टी० आर० फूकन, श्री विष्णु दिगम्बर और स्व० सर साहब जी महाराज आनन्दस्वरूप जी आदि ने महाविद्यालय की प्रशंसा की थी।

सारांश यह है कि महाविद्यालय को सभी विचारों, सभी सम्प्रदायों और सभी प्रान्तों के लोगों का प्रेम प्राप्त हुआ। आर्यसमाजी संस्था होते हुये भी उसकी लोकप्रियता साम्प्रदा-यिकता की सीमा को लाँघ गई। पंजाब के एक साधारण शहर में होते हुये भी सारे देशमें और देश की सीमा पार कर विदेशों में भी उसके नाम और कार्य की कीर्ति फैल गई। वह सच्चे अर्थों में ऐसी सार्वजनिक संस्था बन गई जिसे बिना किसी सन्देह के राष्ट्रीय कहा जा सकता है। बंगाल के

सुप्रसिद्ध नेता स्वर्गीय श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्ती ने अपने पत्र "सर्वेंण्ट" में बिलकुल ठीक लिखा था कि "भारत में आज चारों ओर स्त्रियों को राष्ट्रीय-शिक्षा देने की चर्चा है। पूना में एक महिला विश्वविद्यालय खुला है। परन्तु हमें नहीं मालूम कि वहाँ राष्ट्रीय-शिक्षा के किस आदर्श का अनुकरण किया जायगा। हाँ जालन्धर महाविद्यालय के बारे में हम यह ज़रूर कह सकते हैं कि वहाँ वस्तुतः एक महान् राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की बुनियाद रखी जा रही है। हम विद्यालय की इस प्रगति और महत्वाकाँक्षा के लिये लाला देवराज जी को बधाई देते हैं।"

महात्मा गान्धी ने १३ नवम्बर १९२० को अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ का उद्घाटन करते हुये कहा था कि "गुजरात नेशनल कालेज एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का पहिला कालेज है। यह सब कन्या महाविद्यालय जालन्धर और हरिद्वार के गुरुकुल काँगड़ी का उदाहरण सामने रख कर किया जा रहा है। मुझे आशा है कि यह गुजरात में एक आदर्श कालेज का स्थान प्राप्त करेगा।"

७—आकर्षण, विशेषतायें और सेवा

महाविद्यालय ने जो लोकप्रियता प्राप्त की, वह स्वाभाविक होते हुये भी अनायास ही प्राप्त नहीं हो गई थी। वह उस आकर्षण और विशेषताओं का परिणाम थी, जो कहीं अन्यत्र न पाई जाकर उस समय केवल महाविद्यालय में ही दीख पड़ती थी। जिस महाविद्यालय पर सरकारी अधिकारी और राष्ट्रीय नेता, राजा-महाराजा और साधारण जनता, शिक्षा-विशेषज्ञ और समाज-सुधारक आदि सभी तरह के लोग समान रूप से आकर्षित और मोहित थे, उसका कारण उसकी अपनी विशेषतायें थीं। सब से पहिली चीज़ महाविद्यालय की अपनी मौलिकता थी, जो वहाँ आने वाले को सहसा मोहित कर लेती थी। देवराज जी का उपजाऊ दिमाग़ हमेशा अनोखी कल्पनायें करने में लगा रहता था। आपकी दूर की सूझ तब काम देती थी, जब दूसरों की विचार-शक्ति असफल हो जाती थी। दूसरों की नकल करना आप नहीं जानते थे। जिस किसी अच्छाई को आप अनुकरणीय समझते थे, उसको कुछ ऐसा रूप देखकर अपनाते थे कि वह महाविद्यालय की अपनी ही चीज़ जान पड़ती थी। नकल को असल बना देने में आपका दिमाग़ कमाल कर दिखाता था। आपकी दूर की सूझ, अनोखी कल्पना और प्रतिभासम्पन्न विचार-

शक्ति की वजह से ही महाविद्यालय के हर काम में मौलिकता दीख पड़ती थी। "आश्रम" की कल्पना तो ऐसी मौलिक थी कि सरकार ने १६०५ में लाहौर के क्वीन मेरी कालेज का बोर्डिंग हाऊस खोलने के समय उसका अनुकरण किया था। इसी प्रकार उसके विद्यालय-विभाग का अनुकरण भी जहाँ तहाँ किया गया था। उसकी शिक्षा-पद्धति इतनी मौलिक थी कि उसके लिये आवश्यक पुस्तकों का निर्माण तक संस्था की ओर से देवराज जी को स्वयं ही करना पड़ा था। न केवल पञ्जाब की, बल्कि पञ्जाब के बाहर की संस्थाओं में उन पुस्तकों को अपनाया गया। उस समय बालोद्यान, किण्डर गार्टन या माण्टेसरी सिस्टम आदि का कहीं पता भी न था कि देवराज जी ने "संगीत बालोद्यान" की शिक्षा-पद्धति का आविष्कार कर "हँसी-खेल में शिक्षा" देने का जो सिलसिला शुरू किया था, वह ५० वर्षों के परीक्षण के बाद आज भी सब प्रचलित पद्धतियों से कहीं अधिक सरल, उत्तम और उपयोगी साबित हो रहा है। लड़कियाँ हँसी-खेल में न केवल प्रारम्भिक शिक्षा-ग्रहण कर लेती हैं, लेकिन जीवन के लिए उपयोगी बहुत-सी बातें भी सीख लेती हैं। इस खेल-कूद के साथ साक्षरता से भी पहिले उनकी वास्तविक शिक्षा 'हो मण्डल' से शुरू हो जाती है। चक्की, घोड़ा, शेर, बिल्ली, तोता, बन्दर, लँगूर आदि के गानों व खेलों के साथ शुरू होने वाली यह पढ़ाई लड़कियों में तेज, ओज, बल, आत्माभिमान और स्वदेशाभिमान की भावना प्रारम्भ से ही भरना शुरू कर देती है। 'जलविद् माता" की अनूठी

कल्पना कन्याओं के दिमाग़ को संकुचित न बना कर उनमें स्वदेश के प्रति मातृ-भूमि की व्यापक भावना जगाने का काम करती है। देवराज जी द्वारा आविष्कृत महाविद्यालय की इस मौलिक शिक्षा-पद्धति पर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखी जा सकती है और उस पद्धति के लिये रची गई खेलों की सिर्फ सूची बनाई जाय तो कई पन्ने भरे जा सकते हैं। यहाँ तो प्रसंगवश केवल इतना ही लिखना है कि इस मौलिक शिक्षा-पद्धति के कारण महाविद्यालय के विद्यालय-विभाग में भी पैदा हुई मौलिकता उसकी एक ऐसी विशेषता है, जिसका अनुकरण उसके आश्रम के समान ही किया गया और उसको लोकप्रिय बनाने में इसने बहुत बड़ा भाग अदा किया।

शिक्षा-पद्धति में मौलिकता पैदा होने का एक कारण और था। महाविद्यालय की संचालक मुख्य-सभा ने अपने जन्म के साथ ही अपने उद्देश्यों में यह लिखा था कि विद्यालय में शिक्षा हिन्दी-भाषा को माध्यम बना कर दी जायगी। शारीरिक एवं धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ शिल्प, गृह-कार्य, स्वच्छता एवं आरोग्यता की शिक्षा भी दी जायगी। स्त्रियों को अध्यापिकायें बनाने और पाठविधि के लिये हिन्दी एवं संस्कृत की उपयोगी पुस्तकों का भी संग्रह किया जायगा। जिस संस्था की स्थापना इन महान्, मौलिक और व्यापक-आदर्शों एवं उद्देश्यों को सामने रख कर की गई थी, उसमें मौलिकतां का पैदा होना स्वाभाविक था। देवराज जी और उनके साथियों ने इन आदर्शों को कभी भी

अपनी आँखों से ओझल नहीं होने दिया और सब तरह की कठिनाइयों को झेलते हुये भी वे उनकी पूर्ति में निरन्तर लगे रहे। इसलिये जहाँ हिन्दी में शिक्षा देना महाविद्यालय की एक बड़ी विशेषता है, वहाँ लड़कियों को केवल साक्षर बना कर उनकी स्वाभाविक शक्तियों का विकास कर उन्हें भावी जीवन की ज़िम्मेवारियों को पूरा करने के योग्य बनाना भी उसकी एक ऐसी विशेषता है, जो उन दिनों में कहीं और नहीं पाई जाती थी, जिन दिनों में आज से ५० वर्ष पहिले महाविद्यालय की स्थापना की गई थी।

स्त्रियों और शूद्रों को पढ़ाना जहाँ श्रुति के विरुद्ध बताया जाता था, वेद का पढ़ाना तो क्या सुनना तक जहाँ उनके लिये पाप समझा जाता था और संस्कृत पढ़ने की जिन के लिये कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, उन को महाविद्यालय ने संस्कृत पढ़ाई, वेद-पाठ के साथ साथ धार्मिक शिक्षा दी और प्राज्ञ एवं शास्त्री तक की शिक्षा देकर यह बता दिया कि स्त्री पुरुष से शिक्षा के क्षेत्र में किसी भी अंश में कम नहीं है। संस्कृत की शिक्षा, वेद-पाठ का अभ्यास और धार्मिक ग्रन्थों की पढ़ाई विद्यालय की अपनी ही विशेषता थी। इसी प्रकार संगीत को शिक्षा का प्रधान अंग बनाने का काम उत्तर भारत में सब से पहिले महाविद्यालय ने किया।

शिक्षा के समान समाज-सुधार दृष्टि से भी महाविद्यालय में एक अनोखा आकर्षण था। परदे की कुप्रथा को जड़-मूल से

नष्ट कर जात-पात के संकुचित दायरे को भी उस ने नष्ट कर दिया। इसी प्रकार प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता का भी कोई भेद-भाव महाविद्यालय ने अपनी कन्याओं में नहीं रहने दिया। कन्याओं के आपस के प्रेम, बड़ों के प्रति उन के आदर व श्रद्धा और 'जलविद् माँ' के प्रति उन की गहरी निष्ठा से महाविद्यालय में पारिवारिक जीवन की पवित्रता का पैदा होना भी एक बहुत बड़ी विशेषता है। महाविद्यालय परिवार में रहने वाली लड़कियाँ अपने परिवारों को सचमुच ही भूल जाती हैं। अपने परिवारों को भुला कर एक बड़े परिवार में अपने को मिलाने की भावना से लड़कियों में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की एक ऐसी भावना पैदा हो जाती है, जो बहुत ही कम शिक्षाणालयों में पाई जाती है। इसी प्रकार लड़कियों के हृदय में अपने अतीत में श्रद्धा और भविष्य में विश्वास पैदा करना भी महाविद्यालय की एक उल्लेखनीय विशेषता है।

सादा जीवन और उच्च विचार भी महाविद्यालय के जीवन का एक प्रधान अंग है। सादगी, सरलता, मितव्ययता आदि की ओर महाविद्यालय के संचालकों का प्रारम्भ से ही विशेष ध्यान रहा है। खान-पान और रहन-सहन में जो सात्विकता, सादगी और सरलता महाविद्यालय में दीख पड़ती है, उस की प्रशंसा के गीत यहाँ आने वाले प्रायः प्रत्येक दर्शक ने गाये हैं। महाविद्यालय को देखने के लिये आने वाला हर एक यात्री उस की इस विशेषता पर मुग्ध हो कर वापिस लौटा है।

कन्याओं को देश के सार्वजनिक जीवन और संसार की व्यापक हलचलों से परिचित रखना भी महाविद्यालय की एक बड़ी विशेषता है। कन्याओं को केवल किताबी कीड़ा नहीं बनाया जाता, बल्कि इतिहास, भूगोल एवं विज्ञान की शिक्षा देकर और देश-विदेश की हलचलों से अवगत कर के उन में भाग लेने की भी उन्हें प्रेरणा की जाती है। केवल घर-गृहस्थी के योग्य न बना कर सार्वजनिक जीवन को भी उनमें अभिरुचि पैदा की जाती है। १६०३-४ में लाहौर में जो शिक्षा-सम्बन्धी प्रदर्शिनी हुई थी, उसमें लड़कियों की चीज़ें भेजी गई थीं, जिनको वहाँ काफी पसन्द किया गया था। १६०७ में महाविद्यालय में स्त्रियों और लड़कियों के तय्यार किये गये सामान को एक अखिल भारतीय प्रदर्शिनी का आयोजन किया गया था, जिसमें १८०० चीज़ों का प्रदर्शन किया गया था। आर्यसमाज जालन्धर और महाविद्यालय के उत्सव पर भी महाविद्यालय की कन्यायें अपने सामान की प्रदर्शिनी कई वर्षों तक लगाती रहीं। १६०३ में लड़कियों ने रूस-जापान युद्ध के समय १६) जापान फण्ड में सहायतार्थ भेजे थे। यह रकम लड़कियों ने गुड़ियाँ बना उनको बेच कर जमा की थी। १६०६ में कांगरेस रिलीफ फण्ड में भी लड़कियों ने इसी प्रकार सहायता की थी। १६१३ में दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गान्धी द्वारा संचालित सत्याग्रह के लिये १५०) की सहायता भेजी गई थी। १६१५ में लड़ाई पर जाते हुये बंगाली सैनिकों का स्टेशन पर जा कर महा-

विद्यालय की लड़कियों ने अभिनन्दन किया था। अमार अमानुल्लाह ने अपनी बेगम को परदे की प्रथा से मुक्ति दिला कर अफगानिस्तान में जब समाज-सुधार का काम शुरू किया था, तब महाविद्यालय की कन्याओं ने बेगम सौरेय्या को अभिनन्दन का पत्र लिखा था। कांग्रेस और उसके साथ होने वाले समाज-सुधार-सम्मेलन में भी देवराज जी बहुत शुरू से सम्मिलित हुआ करते थे। बाद में आप अपने साथ कुछ लड़कियों को भी ले जाने लगे। समाज-सुधार सम्मेलन में उनके भाषण भी आप कराया करते थे। १९२९ में लाहौर में हुई कांग्रेस की महिला-स्वयं-सेविकाओं में ७० कन्यायें शामिल हुई थीं। वहाँ की उस ठिठुरती सरदी में जिसके कारण दिसम्बर में कांग्रेस का होना बन्द कर दिया गया था, महाविद्यालय की कन्याओं ने साहस और तत्परता का अनोखा परिचय दिया। फरवरी १९३० से प्रति सोमवार को महाविद्यालय में राष्ट्रीय झण्डे का सार्वजनिक अभिवादन होता है। सच तो यह है कि महाविद्यालथ की कन्यायें "चाचा जी के नन्हें से साम्राज्य" के देशभक्ति पूर्ण स्वतन्त्र वातावरण में चौबीसों घण्टे खेलती, पलती, पढ़ती और साँस लेती हैं। वे बिना बताये और बिना सिखाये हर एक साँस के साथ देशभक्ति का पाठ पढ़ती हैं। इसी का परिणाम है कि १९२० के सत्याग्रह आन्दोलन में महाविद्यालयकी पढ़ी हुई जलविद् कन्याओं ने अपने अपने शहरों में खूब काम किया। राष्ट्र-सेवा के सार्वजनिक मैदान में काम करने के लिये पहले पग बढ़ाने वाली पञ्जाब की

महिलाओं में महाविद्यालय की कन्याओं व स्नातिकाओं की विशेष संख्या है। कन्याओं ने भारतमाता की वन्दना, राष्ट्रीय पताका की सराहना और नेताओं को स्तुति के जो गीत या भजन बनाये हैं, उनमें से बहुत से पंजाब के घर-घर में गाये जाते हैं। स्त्री-शिक्षा के मैदान में काम करने वाली दूसरी कौन संस्था इस विशेषता में महाविद्यालय के शानदार रिकार्ड कामुकाबला कर सकती है ?

कन्याओं में राष्ट्रीयता, देशभक्ति और स्वदेशप्रेम पैदा करने में महाविद्यालय में मनाये जाने वाले त्यौहारों ने बहुत काम किया है। त्यौहार राष्ट्रीय ढङ्ग पर मनाये जाते हैं। 'राखी' या 'रक्षा-बन्धन' का त्यौहार विद्यालय में अपने ही ढंग से मनाया जाता है। विद्यालय की ओर से ऐसे भाई बनाने का काम इस त्यौहार पर दिया जाता है, जो उसकी सेवा या आर्थिक सहायता करने का व्रत लें इस निमित्त से एक अच्छी सहायता विद्यालय को मिल जाती है। एक बार ३००० रु० की सहायता प्राप्त हुई थी। १६२२-२३ में धर्मशाला जेल में स्वर्गीय पंजाब केसरी लाला लाजपतराय जी को राखी भेजी गई थी। कन्याओं ने अपने हाथ से सूत काता, उसका कपड़ा तय्यार किया, उस खादी से लाला जी के लिये २ कुरते, २ पजामे तथा २ टोपियाँ तय्यार कीं और उन्हें राखी के साथ लाला जी के पास भेजा गया। लाला जी ने कन्याओं को आशीर्वाद भेजा कि 'ईश्वर तुममें पद्मिनी सरीखा सौन्दर्य, सीता सरीखा नैतिक बल और महारानी लक्ष्मीबाई सरीखी देशभक्ति

पैदा करे।' देश के प्रायः सभी नेताओं से महाविद्यालय की कन्याओं को ऐसे आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त है।

आर्यसमाज में स्त्री प्रचारिकाओं के अभाव को पूर्ति, स्त्री-समाजों की स्थापना को शृंखला, उनके सालाना जलसों की पद्धति और उनके साथ कन्या पाठशालाओं की स्थापना के कार्य का श्रीगणेश महाविद्यालय ने ही किया है। आर्यसमाज द्वारा पञ्जाब में हुई महिलाओं की जाग्रति का सारा श्रेय महाविद्यालय को और उसके नाते देवराज जी को है। दर्जनों समाजों के जलसों पर देवराज जी और महाविद्यालय की अध्यापिकाओं के साथ कन्यायें प्रतिवर्ष जाया करती थीं। १८६७ में जब पहिली बार रोपड़-आर्यसमाज के उत्सव पर ऐसा दौरा किया गया था, तब उसका आर्यसमाजों में ही सख्त विरोध हुआ था पर, देवराज जी उस विरोध से विचलित नहीं हुये। अपने काम में लगे रहे। पञ्जाब की महिलाओं में महाविद्यालय के इस प्रचार से जो जाग्रति पैदा हुई, वह महाविद्यालय की महान् सेवा का एक विशेष अंग है। १६३३ में अजमेर में हुई श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण-अर्धशताब्दी पर देवराज जी महाविद्यालय की कन्याओं को ले गये थे। उसके बाद आपने उनको राजपूताना के प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थानों का भ्रमण कराया। उदयपुर जाने पर महाराजा ने एक हज़ार का महाविद्यालय को दान दिया था।

आर्यसमाज और शिक्षा-प्रचार की दृष्टि से अध्यापिकाओं का कार्य करने के लिए कन्याओं को तय्यार करना भी महा-

विद्यालय की बहुत बड़ी सेवा है। १६१३-१४ तक ऐसी ८१ अध्यापिकायें महाविद्यालय से निकल चुकी थीं, जिन्होंने महाविद्यालय में रह कर अथवा अपने शहरों में पाठशालायें खोल कर स्त्री-शिक्षा के प्रचार के महान् कार्य में योगदान किया था। पञ्जाब और पञ्जाब के बाहर भो कन्या-पाठशालाओं का जाल फैलाने में महाविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करके गई हुई कन्याओं ने बहुत काम किया। बहुतों ने अध्यापन का नियमित काम न करते हुये भी कन्या पाठशालायें खोलीं। सन् १६०७ के फ़रवरी मास में श्रीमती फ्राँसिस, इन्स्पैक्ट्रेस आफ़ स्कूल्स ने डेरा गाजीखाँ की आर्य-कन्या पाठशाला का निरीक्षण करने के बाद पाठशाला के संचालकों से जालन्धर महाविद्यालय की किसी ट्रेण्ड अध्यापिका को अपने यहाँ रखने पर ज़ोर दिया था। १६०८ में कलकत्ता के "इण्डियन मिरर" ने महाविद्यालय की तारीफ़ करते हुये अपने प्रान्त की कन्या पाठशालाओं में उसके समान ट्रेण्ड अध्यापिकायें रखने की सिफ़ारिश की थी।

महाविद्यालय के साथ "अनाथालय" और बाद में "विधवा-भवन" का काम इसी भावना से शुरू किया गया था कि अनाथा और विधवा कन्याओं को प्रचारिका एवं अध्यापिका के कार्य के लिये तय्यार किया जाय। देवराज जी इस बात के कायल थे कि स्त्रियाँ ही स्त्री-जाति का उद्धार कर सकती हैं। उन्होंने अपनी डायरी में एक जगह लिखा है कि "मैं कई बार लिख चुका हूँ और व्याख्यानों में भी इस बात पर बल दे चुका हूँ, कि पुरुष

कितना भी परिश्रम क्यों न करें, स्त्री-जाति का उद्धार तभी हो सकेगा, जब कि देवियाँ अपनी बहिनों के उद्धार का काम स्वयं अपने हाथों में लेंगी।" मातृ-जाति के उत्थान की इस उदात्त भावना से महाविद्यालय का काम शुरू किया गया और उसको शुरू करने के बाद महिलाओं में उस कार्य को सम्पन्न करने की भावना पैदा करने का निरन्तर यत्न किया गया। महाविद्यालय में आने वाली विधवाओं में यह भावना कैसे भरी जाती थी, यह देवराज जी की १६ मार्च १८६६ की डायरी से पता चलता है। उसमें लिखा है कि "सुमित्राबाई चतुर तो है, लेकिन उसे अभी साधना करने की ज़रूरत है। उसके रहन-सहन के ढङ्ग में बहुत परिवर्तन होना चाहिए। मेरी कोशिश किसी कदर कामयाब हुई है। आज मैंने उसको और बाकी विधवाओं को यह साधन दिया है कि वे हर रोज़ सन्ध्या के समय दो बातों पर विचार किया करें। एक तो मुर्दा लाश पर कि इन्सान के शरीर का क्या अन्त होता है और दूसरा कोढ़ी पर कि जिस बाहरी खूबसूरती पर इन्सान इतना नाज़ करता है, वह कितनी अस्थायी और क्षणभंगुर है?" १६०१ की ६ जनवरी की डायरी से इसकी एक और साक्षी मिलती है। आश्रम की बाल-विधवा कन्या सुमित्रा ने डा० गुरुदत्त जी के साथ विवाह कर लिया। उस पर आपने लिखा कि "बेहतर तो यही था कि सुमित्रा अपने इस विचार पर कायम रहती कि 'मैं बाल ब्रह्मचारिणी रह कर स्त्री-शिक्षा का प्रचार करूँगी।' मैं इसी विश्वास से उसे शिक्षा दे रहा

था उस पर बहुत-सा रुपया भी खर्च हुआ। लोग मुझ से पूछते हैं कि क्या मैं इस विवाह से प्रसन्न हूँ? समाज के मैम्बर की हैसियत से मैं प्रसन्न हूँ कि विधवा-विवाह का प्रचार हुआ, लेकिन विद्यालय के मैनेजर की हैसियत से अप्रसन्न हूं कि सुमित्रा अपने विचार पर कायम नहीं रह सकी।" जिस संस्था के संचालक की यह भावना थी, उसकी कन्याओं ने यदि अपने को जलविद् माता के मिशन की पूर्ति में लगा दिया, तो यह बिलकुल स्वाभाविक था। संस्था के संचालक उसके लिये जितना भी अभिमान करें, थोड़ा है। पञ्जाब की महिलाओं में पैदा हुई जागृति, जीवन, चेतना और स्फूर्ति का अधिकाँश ध्येय महाविद्यालय और देवराज जी को है।

समाज-सुधार के क्षेत्र में महाविद्यालय ने जो काम किया, उसका उल्लेख करते हुये २४ दिसम्बर १६१४ को "स्टेटसमैन" तक ने लिखा था कि "महाविद्यालय ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि लड़कियों को शिक्षित बनाना लड़कों को शिक्षित बनाने से भी अधिक आवश्यक है। इस संस्था ने सबसे अधिक स्त्री-शिक्षा का प्रचार किया है। हिन्दी-साहित्य के प्रचार, लड़कियों की शादी की आयु के बढ़ाने और परदा प्रथा को दूर करने में भी इसने बहुत सहायता दी है।

'ट्रिब्यून' के सहकारी सम्पादक श्री जंगबहादुर सिंह ने अपने एक लेख में महाविद्यालय की सफलता का बहुत ही सुन्दर चित्र अङ्कित किया था। उसमें आपने लिखा थ कि "४० वर्ष पहिले

लाला देवराज जी ने एक स्वप्न देखा था। नन्हीं नन्हीं बच्चियाँ पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं से चली आ रही हैं, तुतलाती हुई, क–ख–ग–घ से भी अनभिज्ञ, सर्वथा अबोध। और वही विकसित व सुशिक्षित होकर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं को चली जा रही हैं, नये युग का सन्देश सुनाती हुई; विदुषी, सरस्वती आदि के समान। लाला देवराज जी का स्वप्न सर्वथा सच्चा निकला।"

सच तो यह है कि महाविद्यालय का प्रारम्भ एक आवश्यकता को अनुभव करके महान् अभाव की पूर्ति के लिये किया गया था। केवल देखा-देखी शौकिया तौर पर उसकी स्थापना नहीं की गई थी। इसीलिये उसका एक स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व है। सरकार की न तो उसे कोई सहायता प्राप्त है और न वह किसी सरकारी संस्था के मातहत है। लाला देवराज़ जी ने उसके लिये यत्न भी नहीं किया, बल्कि यत्न-पूर्वक बचते ही रहे। १९१२–१३ में महाविद्यालय की नई ईमारतें शहर के बाहर बन रही थीं। १९१४ में पंजाब के लेफ्टिनेएट गवर्नर पंजाब महाविद्यालय देखने के लिये आये, तब संस्था की ईमारतें अधूरी पड़ी हुई थीं। लेफ्टिनेएट-गवर्नर ने अपने भाषण में महाविद्यालय की सहायता करने का जो आश्वासन दिलाया था, उसके अनुसार देवराज जी के पास सरकारी सहायता के सन्देश आने लगे। मकानात के लिये एक बड़ी रकम और मासिक सहायता देने का भी भरोसा दिलाया गया। दमन के बाद उन दिनों में आर्यसमाज

के प्रति साम-नीति से काम लिया जा रहा था। आर्य-समाजियों और उनकी संस्थाओं पर सरकारी कृपा का विशेष हाथ रखा जा रहा था। जिस तेजस्वी संस्था का ओज दमन की ज़हरीली गोली से धीमा नहीं पड़ा था, उसको मीठे की गोली से वश में करने की नीति बरती जा रही थी। लोहे की जंज़ीरें जिन्हें काबू में नहीं कर सकी थीं, उनको सोने की जञ्ज़ीरों में बाँधने का जाल फैलाया जा रहा था। देवराज जी के सामने भी एक विचित्र समस्या पैदा हो गई। उसके प्रायः सब साथी उस सहायता के लेने के पक्ष में थे लेकिन देवराज जी का दिल नहीं मानता था। कई दिनों तक उनके हृदय में देवासुर-संग्राम मचा रहा और साथियों में उसकी चर्चा होती रही। अन्त में एक दिन दृढ़ता के साथ आपने अपने साथियों से कह दिया कि "नहीं, हम सरकारी सहायता कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते। हमने भीख माँगना सीख लिया है। एक बड़े दरवाज़े पर न जा कर हम हज़ारों छोटे छोटे दरवाज़ों को खटखटायेंगे। इस प्रकार हम अपनी लड़कियों की उस आज़ादी को भी सुरक्षित रख सकेंगे, जिसमें वे स्वतन्त्र पक्षियों की तरह "हिन्दुस्तान हमारा" के गीत गा सकेंगी और महाराणा प्रताप, गुरू गोविन्द तथा छत्रपति शिवा जी के नाम का पवित्र स्मरण अभिमान के साथ कर सकेंगी।" यह थी सच्ची भावना, जिसको महाविद्यालय में देवराज जी ने सदा कायम रखा और बड़े से बड़े सांसारिक प्रलोभन के लिये भी उसे दबने नहीं दिया।

महाविद्यालय की सफलता का प्रमाण इससे बड़ा और क्या चाहिये कि उसके प्रारम्भ में महात्मा हंसराज जी और लाला लाजपतराय जी आदि जिन महानुभावों ने उसका विरोध किया था, उन्होंने महाविद्यालय में आकर उसकी सफलता के गीत गाये और उसके सफल परीक्षण से प्रभावित हो कर स्वयं इस क्षेत्र में काम किया। अमरीका प्रवास से स्वदेश लौटने के बाद आप महाविद्यालय में भी पधारे थे। तब आपने बहुत साफ शब्दों में अपने भाषण में पिछले दिनों के विरोध के लिये अफसोस प्रगट किया था और कहा था कि अपने राजनीतिक कार्यों से बचे हुये समय का सदुपयोग में स्त्री-शिक्षा के प्रचार के कार्य के लिये करूंगा। १६१६-२० में स्वयं महात्मा हंसराज ने नारी-विश्व-विद्यालय के लिये एक योजना तय्यार की। तीन लाख की उसके लिये अपील की। महाविद्यालय की आचार्या लज्जावती जी ने इसे अपनी संस्था की सफलता मानकर उसका समर्थन किया। लेकिन उनकी और महाविद्यालय की योजना में बहुत अन्तर था। इस लिये अपने कार्य को महाविद्यालय के संचालकों ने उसके साथ मिलाना स्वीकार नहीं किया।

महाविद्यालय की विशेषतायें और उसकी महान् सेवा संक्षेप में निम्न प्रकार हैं:

(१) संगीतमय बालोद्यान की शिक्षा-पद्धति का आविष्कार।

(२) शिक्षा का माध्यम हिन्दी किंवा आर्य भाषा को बनाना।

(३) स्त्री-शिक्षा-उपयोगी हिन्दी-साहित्य का निर्माण।

(४) बाल-विवाह की कुप्रथा के मूल में कुठाराघात ।

(५) जात-पात,सम्प्रदायवाद और प्रान्तीयता के भेदभावका उन्मूलन,

(६) परदा-प्रथा का सर्वनाश,

(७) स्त्रियों के लिये स्वच्छता, आरोग्यता और व्यायाम की शिक्षा का प्रारम्भ ।

(८) प्राचीन वैदिक एवं धार्मिक शिक्षा का वर्तमान कालीन शिक्षा के साथ सम्मिश्रण-पूर्व और पश्चिम का भारतीय दृष्टि-कोण को प्रधानता देते हुये सम्मिलन ।

(९) महिलाओं में आपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भावना जगा कर उन्हें स्वावलम्बी बनने के लिये उत्साहित करना ।

(१०) महिलाओं की दृष्टि को विशाल बना उसमें देश, जाति, समाज एवं राष्ट्र के प्रति कर्तव्य-बुद्धि पैदाकर उनमें स्वाभिमान एवं स्वदेशाभिमान की स्फूर्ति जागृत करना ।

(११) संगीत एवं चित्रकला के लिये उनमें रुचि उत्पन्न करना ।

(१२) सरल जीवन और उच्च विचार का उनको अभ्यासी बनाना ।

(१३) उच्च से उच्च शिक्षा देकर उनमें प्रचारिका और अध्यापिका बनने की योग्यता पैदा करना ।

(१४) पुरातन गुरु-शिष्य सम्बन्ध को कायम कर पुराने ऋषि आश्रम की भावना को जगाना ।

यह ऐसा शानदार रिकार्ड है, जिसके लिये कोई भी संस्था अभिमान कर सकती है । निसन्देह, महाविद्यालय ने अपने कार्य से अपने अस्तित्व को सार्थक कर दिखाया है ।

८—भ्रम और विरोध

"मैं अपना काम किये जाऊँगा। यदि कोई महानुभाव बिना मतलब नाराज़ हों तो, यह मेरा कसूर नहीं। मनुष्यों की प्रसन्नता की मैंने कभी इच्छा नहीं की और न करूँगा।"—यह भावना यदि देवराज जी में न होती तो उस विघ्न-बाधा और विरोध में उनका कभी 'हार्ट फेल' हो गया होता, जिस की आँधी में से महाविद्यालय को गुज़रना पड़ा है। हर एक लोकोपकारी कार्य को उपेक्षा, भ्रम और विरोध में से हो कर के गुज़रना पड़ता है। मालूम होता है कि सर्वनियन्ता प्रभु इसी प्रकार उन कार्यों के करने वालों के धैर्य, साहस और पुरुषार्थ की परीक्षा लेते हैं। महाविद्यालय का तो प्रारम्भ ही विरोध के सर्वथा विपरीत वातावरण में हुआ था। दो-तीन बार विफल होने के बाद उसने सफलता की ओर पग उठाया था। पुराने विचार के पण्डितों और जाति-बिरादरी के लोगों के विरोध से भी अधिक भयानक वह विरोध साबित हुआ, जो अपने लोगों की ओर से किया गया था। ३ मई १८९३ को महाविद्यालय की योजना के साथ उसके लिये पहली सार्वजनिक अपील के प्रकाशित होते ही विरोध का बवण्डर उठ खड़ा हुआ। सन् १८९६ की रिपोर्ट में

देवराज जी ने इस विरोध की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'संस्था के संचालकों को यह देख कर महान् आश्चर्य हुआ कि पंजाब में कुछ प्रभाव-शाली लोगों ने मिल कर एक पार्टी बना ली और जोरों के साथ उसका विरोध करना शुरू कर दिया। सच तो यह है कि ऐसे लोगों से विरोध की हमें बिलकुल भी उमीद नहीं थी। यदि पुरातन-पन्थियों ने हमारा विरोध किया होता तो हमें तनिक भी परवाह नहीं होती; लेकिन दुःख तो यह था कि इस विरोधी पार्टी के अधिकाँश सदस्य उस आर्यसमाज के थे, जो वेद तथा शास्त्रों को मानने वाला है, जिसके धर्मशास्त्र इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि स्त्रियों को पुरुषों के समान ही उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है और जिसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लड़कों के समान ही लड़कियों को शिक्षा देने पर ज़ोर दिया है। यह अफ़सोस और भी अधिक इस लिये था कि यह विरोध ईमानदारी तथा सचाई पर आश्रित नहीं।" यह पीछे बताया जा चुका है कि इस पार्टी ने यहाँ तक विरोध किया कि आर्य-प्रतिनिधि सभा में प्रस्ताव पेश किया गया कि महाविद्यालय के आन्दोलन को दबा दिया जाय। ६८ में केवल १४ समाजों ने उसका साथ दिया था। १४ मार्च १८६४ की बैठक में आर्य-प्रतिनिधि सभा ने प्रस्ताव पास किया कि स्त्री-शिक्षा आर्य-समाज के सिद्धान्तों के अनुकूल है, इसलिये कोई कारण नहीं है कि इस आन्दोलन को दबाया जाय। वह भी एक दिन था, जब कुछ आर्य-समाजी भी स्त्री-शिक्षा को

आर्य समाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध बताते थे।

आर्य-प्रतिनिधि-सभा के प्रस्ताव के बाद भी विरोध जारी रहा। अपने को "राष्ट्रीय-आन्दोलन" के प्रवर्तक एवं समर्थक बताने वालों ने भी कमर कस कर महाविद्यालय का विरोध किया। स्त्रियों की उच्च शिक्षा के विरुद्ध अखबारों के कालम के कालम रँगे जाने लगे। महात्मा हंसराज जी और लाला लाजपतराय जी तक ने लेख लिखे कि "विद्यालय खोलने की ज़रूरत नहीं। जालन्धर तक में आकर विरोधी लोगों की ओर से व्याख्यान दिये गये। देवराज जी ने "सद्धर्म प्रचारक" में लेख लिखने के अलावा व्याख्यान भी दिये। ६ मार्च १८६३ को आपने एक ट्रेक्ट भी प्रकाशित किया। इस विरोधी-आन्दोलन के सिलसिले में विद्यालय और उसके संचालकों पर कमीने हमले और गन्दे आक्षेप भी किये गये। यह विरोध तिलमात्र भी महाविद्यालय के संचालकों को अपने ध्येय से विचलित नहीं कर सका।

यह विरोधी-आन्दोलन अभी समाप्त भी नहीं हुआ था कि संचालकों में आपस में मतभेद शुरू होगया। श्री मुन्शीराम जी और श्री देवराज जी में भी, जो कभी अपने काम से अपने लिये दो तन और एक मन वाली कहावत चरितार्थ करते थे, आपस में गहरा मतभेद पैदा हो गया। १८६८-६६ में यह मतभेद बहुत बढ़ गया और देवराज जी ने एक बार महाविद्यालय के उस काम से छुट्टी लेकर स्वतन्त्र रूप से काम करने का निश्चय कर लिया। इसी इरादे से आपने उर्दू में साप्ताहिक पत्र निकालने का निश्चय

कर लिया था। इस गृह्-कलह् के कारण देवराज जी को जो मानसिक व्यथा हुई, उसका चित्र पीछे अङ्कित किया जा चुका है। मुक्ति का साधन मान, जीवन का मक़सद बना, आप जिस काम में लगे थे; उसमें अपने ही साथियों को विघ्न पैदा करते देख आप कुछ विचलित से हो गये। कई रातें आपने रोते हुये बिताईं। पागलों की सी आपकी मानसिक अवस्था होगई। मुन्शीराम जी और देवराज जी का झगड़ा तो निपट गया लेकिन, विरोध शान्त नहीं हुआ। विघ्न-सन्तोषी लोगों ने बे सिर-पैर की उड़ानी शुरू की। १६०१ की डायरी के ७ जनवरी के पन्ने में लिखा है कि लोगों में यह् उड़ाया गया कि एक कन्या ने गले में रस्सी लगा कर फांसी लगा ली है। विद्यालय के काम में सारा दिखलावा है। ढोल की पोल है।

१८६७ से १६०१ तक करनाल-आर्यसमाज के प्रधान श्री छज्जू राम ने महाविद्यालय का जा-बेजा विरोध करने में कोई बात उठा नहीं रखी। करनाल आर्यसमाज को भी उन्होंने अपने साथ लगा लिया। उनके आक्षेपों, उनकी जाँच-पड़ताल, मुख्य सभा के साथ उनके पत्रव्यवहार, मुख्य-सभा की उन दिनों की कार्यवाही आदि को यहाँ उद्धृत करने की ज़रूरत नहीं। उन कागज़ों से पता चलता है कि किन छोटी-छोटी बातों का बतङ्गड़ बनाया जाकर किस प्रकार महाविद्यालय और देवराज जी के काम में रोड़े अटकाये जाते थे? पर देवराज जी भी फ़ौलाद के बने हुये थे। १ मार्च १६०१ की डायरी में लिखा है कि "इस हालत में काम करना मुश्किल है,

लेकिन इस काम को यदि इस समय छोड़ता हूँ, तो काम पीछे रह जाता है। हे ईश्वर! तू सहायता कर। तेरी ही प्रेरणा से यह काम हो रहा है। तुम ही इसे पार लगाओ।"

महाविद्यालय की इस गृह-कलह में कोई ऐसी बात नहीं रही, जिसको लेकर कमीने से कमीने आक्षेप नहीं किये गये। देवराज जी के प्रबन्धकर्ता होने पर भी केवल इसलिये आपत्ति की गई कि वे स्त्री न होकर पुरुष थे। पुरुष-अध्यापकों के रखने पर भी शोर मचाया गया। देवराज जी के साथ लड़कियों के बाहर घूमने जाने पर भी हल्ला किया गया। विद्यालय में स्नान की समुचित व्यवस्था के न होने पर लड़कियों के स्नान का प्रबन्ध देवराज जी ने अपनी कोठी के अलग भाग 'शान्ति-सरोवर' में अपनी सख्त निगरानी में किया हुआ था, उसको लेकर भी सवाल किये गये। १८८५ से देवराज जी ने अपने घर में साप्ताहिक पारिवारिक उपासना का क्रम शुरु किया हुआ था। मुहल्ले की बहुत-सी स्त्रियाँ उसमें शामिल होती थीं आश्रम की कन्याओं को भी आप उसमें ले जाने लगे। उसे भी आपत्ति जनक बताया गया। रात को ८ से १० तक आश्रम की कन्याओं को देवराज जी पढ़ाया करते थे। उसको लेकर भी आक्षेप किये गये। अध्यापिकाओं और स्वयं देवराज जी के साथ कन्याओं के आर्य समाजों के उत्सवों पर जाने की निंदा की गई। लाला मुन्शीराम जी और सन्तराम जी विद्यालय व आश्रम के इन्स्पैक्टर नियुक्त किये गये थे। उस पर भी आक्षेप युक्त सवाल पूछे गये। कहा गया कि देवराज जी हर किसी

को विद्यालय और आश्रम दिखाने ले जाते हैं। उन्हें बुरे-भले में कोई तमीज़ नहीं। वे महाविद्यालय के सर्वेसर्वा बनना चाहते हैं। विरोधियों की ओर से मैनेजिंग कमेटी को एक फ़र्ज़ी कमेटी बताकर विद्यालय के बन्द किये जाने तक की माँग की गई। मुख्य-सभा की कई बैठकें हुई। छज्जूरामजी को बैठक में स्वयं उपस्थित होकर आक्षेपों के पक्ष में प्रमाण पेश करने के लिये एक बार से अधिक अवसर दिये गये। आने का वायदा करके भी वे टालमटोला करते रहे। रोपड़ के लाला सोमनाथ जी ने मुख्य-सभा की ओर से जाँच की। अन्त में ७-८ दिसम्बर की मुख्य सभा की बैठक होकर देवराज जी को सब दोषों व आक्षेपों से बरी और विरोधी-आन्दोलन को नितान्त भ्रम-पूर्ण तथा बिलकुल मिथ्या बताया गया।

इन दिनों में आपने अलौकिक धैर्य और अपूर्व सत्साहस का परिचय दिया। १ मई १८६७ को इस आन्दोलन के शुरू होते ही आपने छज्जूराम जी को लिखा कि "आप जब तक पूरी तौर पर इतमीनान न कर लें, तब तक महाविद्यालय के बारे में कोई राय कायम न करें। संसार में चलते काम को बिगाड़ने वाले बहुत हैं, सुधारने वाले कम। बहुत से ऐसे हैं, जो जल्दी में बिना जाँच किये बेबुनियाद ख़बरें उड़ा देते हैं। इसलिये आप लिखें कि महाविद्यालय की बाबत क्या आपत्तियें हैं, जिससे उनको दूर किया जावे।" २८ अक्तूबर १६०१ को आपने मुख्य-सभा को आक्षेपों के बारे में एक लम्बा लिखित बयान दिया था।

उसको पढ़ कर आपकी दिवंगत आत्मा के प्रति आज भी श्रद्धा और भक्ति के साथ माथा झुक जाता है। उसके प्रारम्भ में आपने लिखा था कि "मैं इकरार करता हूँ कि सभा के सामने लाला छज्जूराम जी मेरे और मेरे भाइयों के विरुद्ध जिन शब्दों में भी अपनी आपत्तियाँ पेश करेंगे, उन पर मुझे कुछ भी रंज न होगा। यदि मेरे और मेरे भाइयों के विरुद्ध फ़ैसला हुआ और छज्जूराम जी ने उसका प्रचार किया, तो भी मुझे कोई आपत्ति न होगी।" कैसी दृढ़ता और आत्मविश्वास के द्योतक ये शब्द हैं? उस लम्बे जवाब में पारिवारिक-उपासना के बारे में स्पष्टीकरण करते हुये आपने लिखा था कि "रही यह बात कि इन कन्याओं पर मेरा क्या हक़ है? जब तक इन कन्याओं की मैं सेवा करूँगा। तब तक इनकी आत्मा मेरे सुपुर्द है। जब तक यह कर्तव्य मैं ग्रहण किये हुये हूँ, तब तक मेरा इन कन्याओं पर वही हक है, जो माता-पिता का अपनी सन्तान पर होता है। मेरा निश्चय है कि मेरे बाद जो महाशय प्रबन्धकर्ता होंगे, वे यदि इस सिद्धान्त को सामने नहीं रखेंगे और कन्याओं के साथ अपने इस सम्बन्ध को नहीं समझेंगे, तो वे अपने कर्तव्य का पवित्रता के साथ पालन नहीं कर सकेंगे। आश्चर्य की बात है कि इतने समय से पारिवारिक उपासना जारी है। कन्याओं के माता-पिता इसको आकर देखते रहे। किसी वली या सरपरस्त ने तो कन्याओं की ओर से कोई आपत्ति नहीं की, किन्तु लाला छज्जूराम, जिनकी कोई कन्या आश्रम में कभी दाख़िल नहीं हुई, न मालूम किस गरज़ से

उनकी वकालत के लिये तय्यार हुए हैं।" हृदय की पवित्रता के लिये और क्या साक्षी चाहिए? "विद्यालय से नुकसान पहुँचा है" —इसके बारे में आपने लिखा कि "करनाल वासियों का यह ख्याल उन्हें मुबारक हो। मुझे उनके इस ख्याल की परवा नहीं। इसका जवाब विद्यालय की कन्यायें दे रही हैं और देंगी। मुझे दृढ़ विश्वास है कि एक दिन आयगा, जब कि असलियत के के खिलाफ़ राय बनाने वाले और स्वयं धोके में पढ़कर दूसरों को धोखेबाज़ कहने वाले पछतायेंगे और उनका मन दुःखी होकर यह कहेगा कि हाय! हमने क्या किया था?" अपने मिशन के भविष्य पर कितना विश्वास है?

इसी सिलसिले में एक दूसरी जगह लिखा है कि "हे ईश्वर, तू इन लोगों की आत्मा में धर्म-भाव पैदा कर, जिससे ये लोग बेचारी कन्याओं के काम को न बिगाड़ें।" फिर लिखा है कि "मैं अपने कर्तव्य को जानता और समझता हूँ। मैं इस काम को मुक्ति का साधन समझ कर करता हूँ। मेरा आत्मा इस बात की गवाही देता है कि हमारा काम हमारे साधनों के लिहाज़ और ज़माने की दृष्टि से बहुत ठीक चला हुआ है।"......"विरोधियों को बेचारी कन्याओं पर भी तरस नहीं आता। यहाँ देवियाँ बनाई जाती हैं। मुझे इस बात का गर्व है कि यह काम मेरे आधीन है।"

चार-पाँच वर्षों से इस गृह-कलह की आग में तप कर देवराज जी कुन्दन बन गये। भगवान् की कठोर परीक्षा में आप

उत्तीर्ण हुये। साथियों को भी पता चल गया कि विरोधी कितने गहरे पानी में हैं? विरोध की एक भयानक भँवर से महाविद्यालय की नौका पार हुई। पर, अभी तो ऐसे कई संकटों को पार करना था।

१९१३ में विद्यालय के जन्म-दिवस पर 'जन्मोत्सव-प्रसाद' के रूप में देवराज जी ने एक निबन्ध लिखकर कन्याओं को सुनाया था। उसमें आपने लिखा था कि '१८९२ में पारितोषक बाँटने का पहिला उत्सव हुआ। यह उस समय की बात है, जब कि पाठशाला में "बिजड़े रे, सुन मेरे बिजड़े रे" अर्थात् 'गुरु-शिक्षा' वाला एक ही खेल खेला जाता था। तुम सुन कर हैरान होगी कि उसको देखकर एक प्रसिद्ध वकील ने कहा था कि "पाठशाला वाले कन्याओं को डूमों की भाँति गाना और नर्तकियों की भाँति नाचना सिखा, कसरत करा तथा उनकी नुमायश दिखा देश की आभा घटा रहे हैं।" विद्यालय में गान और सङ्गीत का समावेश बहुत विरोध के बाद किया गया था। इसे मिरासियों और पेशावर स्त्रियों का धन्धा समझा जाता था। धर्म, शिक्षा और दैनिक जीवन के साथ फ़हश गालियों से भरे हुए गन्दे गीतों का कुछ ऐसा सम्बन्ध जुड़ गया था कि सङ्गीत को उनकी जगह दिलानी कठिन थी। देवराज जी अहमदाबाद और बम्बई के स्कूलों से सङ्गीत को महाविद्यालय की पढ़ाई में समाविष्ट करने की स्फूर्ति ले कर आये थे। उसके अनुसार विरोध के रहते हुए भी आपने सङ्गीत को महाविद्यालय की

पाठ-विधि का एक आवश्यक अङ्ग बना दिया।

१९१४ के लगभग एक बार फिर महाविद्यालय के विरुद्ध शोर मचा। अख़बारों में लिखा-पढ़ी शुरू हुई। लाहौर का "आर्य गज़ट" तो महाविद्यालय पर आक्षेप करने का कोई मौका चूकता ही नहीं था। "प्रकाश" ने भी महाविद्यालय के प्रबन्ध में मीन-मेख निकालने शुरू किये। उस में कई लेख महाविद्यालय के विरुद्ध प्रकाशित हुये। कुछ गुमनाम ट्रेक्ट भी प्रकाशित किये गये। इस विरोध का निराकरण करने के लिये "भारत" में जो महाविद्यालय का उर्दू साप्ताहिक था, लेख लिखे जाते थे और भ्रमों का निवारण भी बराबर किया जाता था।

"आर्य-कन्याओं में फ़ैशन की गुलामी" शीर्षक से सितम्बर १९१५ के 'प्रकाश' में एक लेख प्रकाशित हुआ था, इसमें लिखा गया था कि "शिक्षा ने स्त्रियों के काम करने की शक्ति को नष्ट कर दिया है। उनमें तिनका तोड़ने की भी हिम्मत नहीं। रोटी पकाये तो नौकर, घर का काम करे तो नौकर। अगर पति की तनखाह कम हो और नौकर रखने की ताकत न हो तो यह सब काम खुद पति करे। अगर कीमती साड़ी और डासन का बूट न मिले तो पति की ख़ैर नहीं। गरज़ यह कि लड़कियों में फ़ैशन की बू घुस गई है। यह सब आर्य-कन्या-पाठशालाओं ख़ास कर कन्या-महाविद्यालय के संचालकों का कसूर है। उन्हें इधर ध्यान देना चाहिये। श्री केशोराम जी ने इसका प्रत्युत्तर लिखा, जिसमें आपने बताया कि फ़ैशन के दोष के लिये

लड़कियों के माता-पिता व पति ज़िम्मेवार हैं, न कि महाविद्यालय के संचालक। महाविद्यालय की शिक्षा-पद्धति और आश्रम की दिनचर्या का उल्लेख करके आपने दिखाया कि उसमें धर्मशिक्षा का कितना प्रबन्ध है, भोजन कितना सादा दिया जाता है और कैसा नियमित जीवन विद्यालय की कन्याएँ बिताती हैं? आपने लिखा कि "दस वर्षों में विद्यालय से ८० अध्यापिकायें विभिन्न पाठशालाओं में भेजी जा चुकी हैं, लेकिन आज तक किसी के बारे में कोई शिकायत नहीं आई।" इसी प्रकार वेश भूषा का विवरण देने के बाद आपने पूछा कि "इन अहतयातों के बाद भी यदि कोई विद्यालय के संचालकों अथवा अधिकारियों पर कन्याओं को फैशनेबल बनाने का इलज़ाम लगाता है, तो लेखक ही कृपया बतायें कि इससे ज्यादा सादगी और क्या हो सकती है?"

बेसिरपैर की उड़ाने में भी कुछ लोग लगे रहते थे। झूठे ट्रेक्ट व गंदे पोस्टर भी बहुत से निकाले गये। लाहौर के "बुलैटिन" के सम्पादक ने इन कमीनी हरकतों की बहुत कड़ी आलोचना की थी। इस सब विरोध की चर्चा करते हुये देवराज जी ने एक बार कहा था कि "कन्या-महाविद्यालय की बुनियाद रखे हुये ३७ वर्ष हो चुके हैं। शुरू में मुझे अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। बहुत विरोध एवं विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा। मैंने धैर्य के साथ सब कुछ सहन किया। मुझे मेरी माता से इस काम में बहुत सहायता मिली। जब कभी कोई लड़की

आश्रम में बीमार पड़ जाती, तो चाहे रात के बारह बजे हों या दो, वह ख़ुद पहुँचतीं और बीमार की परिचर्या करती। हमने अपने विद्यालय में सरकारी यूनिवर्सिटियों के पाठ्यक्रम का अनुकरण नहीं किया है। हम देश की भावी माताओं को उत्तम जीवन-संगिनी व सद्गृहस्थिनी बनाना चाहते हैं, क्लर्क नहीं पैदा करना चाहते। यह जो कुछ कर रहे हैं, वह हमारे कर्तव्यों में शामिल है।" सचमुच, इस कर्तव्य-पालन की भावना से ही देवराज जी इतने विघ्न-विरोध और बाधाओं का सामना करने में सफल हो सके। स्त्री-शिक्षा के मिशन को आपने नये धर्म की तरह स्वीकार किया था और बाहर धर्मान्ध की तरह उसका आपने प्रचार किया। कोई भी संकट आपको योग-भ्रष्ट नहीं कर सका। मुक्ति के लिये किये गये अनुष्ठान को आपने पूरा किया। आपकी बोधि-वृक्ष की तपस्या सर्वांश में पूरी हुई।

लेकिन,आपकी प्रिय संस्था को आपके परलोकवास के बाद एक बार फिर भयंकर विरोध का सामना करना पड़ा। पंजाब विश्वविद्यालय की परीक्षाओं को लेकर आन्दोलन शुरू हुआ। उसने इतना विराट रूप धारण कर लिया कि पंजाब के प्रायः सभी समाचार-पत्रों में उ की चर्चा होने लगी। 'आर्य मुसाफ़िर, 'मिलाप' 'वीरभारत' और "ट्रिब्यून" में कई लेख प्रकाशित हुये। रायबहादुर दीवान बद्रीदास जी ने उनके जवाब में 'प्रताप' में एक विस्तृत लेख लिखा, जिसमें आक्षेपों का उचित जवाब दिया गया। कुछ आक्षेप विद्यालय की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर और अधि-

कांश उसकी मुख्य सभा एवं उसके नियमों आदि पर किये गये थे। वह विरोधी आन्दोलन कितना भयानक था, इसका पता उक्त लेख की कुछ पंक्तियों से लग जाता है। बद्रीदास जी ने लिखा था कि "मेरे लिये आर्यसमाज उतनी ही श्रद्धा की पात्र है, जितना कि कन्या महाविद्यालय। विद्यालय को आर्यसमाज ने ही जन्म दिया है। इस लिये मैं आर्यसमाज की रक्षा करना विद्यालय की रक्षा करने से भी अधिक आवश्यक समझता हूँ। मैं विद्यालय को आर्य सामाजिक संस्था समझता हूँ। मुझे कोई भी ऐसा अवसर याद नहीं जब कि किसी मतभेद के कारण किसी संस्था के नाश करने के लिये आर्यसमाजियों ने आग्रह किया हो। इस झगड़े के लिये मुझे इस लिये भी अधिक दुःख है कि मुझे भय है कि इस झगड़े में आर्यसमाज की अपनी बुनियाद ही खोखली न हो जाय मैं यह ज़रूर कहूंगा कि आर्यसमाजों में दलबन्दी का जो यह भयानक सिलसिला जारी हुआ है, वह व्यक्तिगत कारणों से हुआ है। कहीं ऐसा न हो कि इस प्रकार के व्यक्तिगत झगड़े पैदा करके आर्यसमाज कन्या महाविद्यालय को नष्ट करने में अपना ही नाश कर ले। मैं यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि महाविद्यालय आर्यसमाज के हाथों से हरगिज़ बाहर नहीं जा रहा ··· ।" इस बार फिर से आक्षेप किये थे कि महाविद्यालय में आर्यसमाज की शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है और लड़कियाँ फैशनेबल बन रही हैं। इनका भी बद्रीदास जी ने निराकरण किया।

महाविद्यालय के लिये यह सौभाग्य की बात है कि विरोध

की यह आँधी जितने ज़ोरों से उठी थी, उतनी ही जल्दी शान्त हो गई। महाविद्यालय ने फिर दृढ़ता के साथ प्रगति, उन्नति एवं विकास की ओर पग उठाया है और अपने संस्थापक दिवङ्गत देवराज जी के अक्षय कीर्ति-स्तम्भ के रूप में उसका संचालन और समथन किया जा रहा है। उसमें संचालकों को उसके संस्थापक की आत्मा का आशीर्वाद प्राप्त हो कि वे अपने यत्नों में सफल हों और महाविद्यालय सफलता के उच्चतम शिखर पर आरूढ हो।

९—चाचा जी

महाविद्यालय को देवराज जी वैसे तो विश्वविद्यालय बनाने की आकांक्षा रखते थे, लेकिन उसके भीतर के वातावरण को आप एक परिवार का रूप देना चाहते थे। इसी लिये आपको आचार्य अधिष्ठाता गुरु जी, चांसलर या वाइस-चांसलर आदि शब्द इतने अच्छे नहीं मालूम होते थे। आप ने उनकी जगह चाचा जी, माता, जी, बहिन जी, बड़ी बहन जी, बुआ जी, आदि शब्दों का ही विद्यालय में व्यवहार किया। विद्यालय की लड़कियाँ अध्यापिकाओं के लिये बहिन जी आदि शब्दों को काम में लाती थीं और देवराज जी को वे सब चाचा जी कहा करती थीं। आप को वे चाचा से भी अधिक पिता और पिता जी से भी अधिक माता समझा करती थीं। आपका अपना व्यवहार भी वैसा ही था। बच्चों के साथ बच्चा बन जाने में आप विशेष प्रवी थे और उनको अपने कन्धे व सिर पर लिये फिरा करते थे। विद्यालय की 'हो मण्डली' को चाचा जी के साथ खेलने की खुली छुट्टी थी विद्यालय की प्रारम्भिक श्रेणी की कन्याओं की टोली का नाम विद्यालय में 'हो मण्डली' था। "हँसो खेल में शिक्षा" पुस्तक के 'हो मण्डल' शीर्षक का गान 'हो मण्डली' का राष्ट्रीय

गान था। चाचा जी उस गान को जब 'हो मण्डली' के साथ मिल कर गाते थे, तब अपना बुढ़ापा बिलकुल भूल जाते थे। उन्हीं में से एक बनकर उनके साथ खेलने में तन्मय हो जाया करते थे।

विद्यालय के शासन, नियन्त्रण और व्यवस्था को कायम रखने का आपका अपना ही तरीका था। यदि कभी कन्याएँ आपका कहना नहीं मानती थीं, तो आप उनसे बच्चों की तरह रूठ जाया करते थे। १८६१ की बात है विद्यालय में दीवाली की खूब तय्यारियाँ की गईं। लेकिन पार्वती और लीला किसी बात पर लड़ पड़ीं। देवराज जी ने भी उनको समझाया, पर वे आपस में न बोलीं।" इसका आप को बहुत दुःख हुआ। आप उदास होकर आश्रम से चले आये और यह कहते आये कि "तुमने मेरा कहना नहीं माना। अब मैं आश्रम नहीं आऊँगा।" इस पर कन्याओं को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने पश्चात्ताप किया। देवराज जी को पार्वती ने निम्नलिखित पत्र लिखा:—

श्रीयुत चाचा जी,

नमस्ते! रात को जो बात हुई, उसके लिये क्षमा करें। आगे किसी लड़की को मैं ऐसी बात नहीं कहूँगी। आप यहाँ न आयेंगे तो हमारा निर्वाह किस प्रकार होगा? हम तो आपके आश्रय हैं। आप हमारे सच्चे पिता हैं। आपके बिना हमारा यहाँ कौन है? हम आप से क्षमा चाहती हैं। जब तक आप आश्रम नहीं आयेंगे, तब तक सब कन्यायें भोजन नहीं करेंगी। आप गुस्से को छोड़ दें। इस पत्र को देखते ही आ जावें। आपकी पुत्री—पार्वती

लीला तथा अन्य लड़कियों ने भी इस आशय के पत्र लिखे। चाचा जी को उसी समय आश्रम आना पड़ा। नियन्त्रण और व्यवस्था कायम रखने का यही सबसे बढ़िया तरीका था, जिसको देवराज जी प्रायः काम में लाया करते थे। 'धर्म-संकट और 'भ्रम व विरोध' के प्रकरण में पाठकों ने पीछे देख लिया है कि देवराज जी कन्याओं के साथ अपना माता-पिता का सम्बन्ध समझते थे और उसकी पवित्रता को अपने आजीवन यत्न-पूर्वक निभाया। कन्याओं की कमज़ोरी को आपने सदा अपनी ही कमज़ोरी अनुभव किया। १६२५ में जब आप धन-संग्रह के लिये बरमा गये थे, तब आपके साथ स्नातिका सत्यवती और बृजबाला भी गई थीं। लीला और पार्वती के समान दोनों का स्वभाव कुछ गरम था। उस यात्रा के संस्मरणों में आपने लिखा है कि "मुझे भय था कि कहीं सत्यवती और बृजबाला का विलाप-बिगुल न बज उठे। यह दोनों पुत्रियाँ छोटी-छोटी बात पर रोने लगती हैं। सत्तो तो आपे से बाहर हो जाती है, विवेक खो बैठती है और खाना-पीना छोड़ देती है। यह अवगुण उसके सद्गुणों को क्षीण करने वाला है। निस्सन्देह उसकी व्याख्यान-शक्ति अत्युत्तम है। इस यात्रा में उसने उसमें विशेष उन्नति की है। ब्रह्मचर्य आदि सद्गुण भी उसमें प्रशन्सनीय हैं, लेकिन धैर्य व गम्भीरता उसमें काफ़ी नहीं है। तुरन्त घबरा जाती है। ये अवगुण बहुत हानिकारक हैं, इनको दूर किये बिना उसकी विद्या सफल न होगी। इनके दूर होने पर यह पुत्री देश तथा जाति की बहुत सेवा कर सकेगी। इस में मेरा

भी दोष है। मुझे मालूम न था कि सत्तो में यह दोष बहुत अधिक है। मेरे आत्मा में यदि यथेष्ट साधना होती, तो ऐसे दोष कन्याओं में क्यों होते। मुझे अधिक साधना करनी चाहिये।" जो गुरु, आचार्य या माता-पिता अपने चरित्र से कन्याओं के चरित्र का निर्माण करना चाहते हैं, उनमें यदि ऐसी भावना और साधना नहीं है तो वे अपने यत्न में सफल नहीं हो सकते। एक जगह देवराज जी ने लिखा है कि "हँसी आती है मुझे उन पर, जो स्वयं तो नियमों का पालन नहीं करते और नियमों के तोड़ने में कुछ भी-संकोच नहीं करते, लेकिन दूसरों को नियम न पालन करने पर कड़े शब्द सुना कर ललकारते हैं।" आत्म-साधना और आत्म-अनुष्ठान की इस भावना से ही देवराज जी ने महा वद्यालय में वह वातावरण पैदा करने का यत्न किया, जिसमें शासन, व्यवस्था या नियन्त्रण के लिये किसी कठोर और बाहरी साधन का सहारा नहीं लेना पड़ता था। वह विद्यालय की दैनिक-चर्या का स्वाभाविक अंग बन गया था। लड़कियों ने भी उसको अपने स्वभाव का एक हिस्सा बना लिया था।

महाविद्यालय में किसी कन्या के बीमार पड़ने पर चाचा जी के हृदय में असह्य व्यथा पैदा हो जाती थी। कन्या के स्वस्थ न हो जाने तक वे बड़ी चिन्ता में रहते थे। जुलाई १६०३ में आश्रम में हैज़ा फैल गया। सब यत्न करने पर भी चार कन्यायें निरञ्जन कुमारी, शिवदेवी, प्रेमदेवी और द्रौपदी चल बसीं। आश्रम की उस विपत्ति और संकट का वृत्तान्त अगस्त

१६०३ की "पाँचाल-पण्डिता" में आपने लिखा है। उसके एक-एक अक्षर से आज भी माता की ममता टपक रही है। उसके शुरू में ही आपने लिखा था कि "यह समाचार लिखते हृदय भटा जाता है। कलम आगे नहीं चलती और जलभरी आँखें देख नहीं सकतीं कि हैज़े से हमारी चार कन्यायें मृत्यु-लोक को सिधार गईं।" अन्त में फिर आपने लिखा कि "जिन पर हमारी आशायें थीं, अपनी गोद में उनके मरने और अपने हाथों उनकी अन्त्येष्ठि करने का ध्यान आज भी हमें अति पीड़ित कर रहा है।"

इस संकट के अवसर पर कन्याओं ने किस सेवा के उच्च भाव का परिचय दिया, वह महाविद्यालय के वास्तविक स्वरूप का द्योतक है। उससे पता चलता है कि चाचा जी के साम्राज्य में शुरू दिनों में भी पवित्र पारिवारिक स्नेह की कैसी विमल धारा बहा करती थी? सावित्री, सुनन्दा, हीरा, गोमती, सुमित्रा और लक्ष्मी के सिवा बाकी सब कन्याओं को बीमार कन्याओं से अलग कर दिया गया था। रात-दिन जाग कर, किसी भी बात से घृणा न कर इन छः कन्याओं ने बीमार बहिनों की सेवा में कोई बात उठा न रखी। पर, बाकी लड़कियों को यह सहन न हुआ। उन्होंने निम्न पत्र लिखा:

"पिता तुल्य पूजनीय और माता तुल्य स्नेह-दाता श्रीयुत चाची जी, हम कन्याओं की, जिन्हें आपने अलग भेज दिया है, विनम्र प्रार्थना है कि बीमार बहिनों की सेवा करने वाली

हमारी बहिनें थक गई होंगी, क्यों कि रात-दिन काम करते करते थकावट हो ही जाती है। इस लिये अब उनकी जगह हमें सेवा का अवसर दीजिये। हमारी इस प्रार्थना को ज़रूर स्वीकार कीजिये।" दुर्गावती द्वारा यह पत्र भेजा गया था। वह छः वर्ष से अपने घर नहीं गई थी। उसके पिता का कोटा से पत्र आ चुका था कि तुम्हारे लिये पास भेजा जा रहा है और दो चार दिनों में ही कोई आदमी तुमको लेने के लिये आने वाला है। उसको घर जाने का बहुत चाव था। उसे बताया गया कि यदि वह सेवा का काम करना चाहेगी, तो उसे घर जाने का विचार त्याग देना होगा। देवराज जी लिखते हैं कि पुत्री दुर्गा ने जवाब दिया कि "मैं सेवा करना घर जाने की अपेक्षा उत्तम समझती हूं। कन्याओं के ये उच्च भाव चाचा जी के साम्राज्य को आज भी स्वर्ग बनाये हुये हैं।

देवराज जी की अनोखी कल्पना से महाविद्यालय को जो मौलिकता प्राप्त हुई, उसका सब से बड़ा सौन्दर्य यह था कि महाविद्यालय में 'जलविद्द माँ' की भावना को जगा कर उसकी प्रतिष्ठा तथा गौरव की रक्षा एवं अभि-वृद्धि का भाव सदा ही कन्याओं एवं कार्य-कर्ताओं में पैदा किया जाता था। कन्याओं के हृदय में शुरू से ही यह भाव भरा जाता था। 'हो मण्डल का गीत' शीर्षक का यह एक गाना है:

"जलविद्द गीत हमारा है, नाम हमारा प्यारा है।
जालन्धर को 'जल' मानो, विद्यालय को 'विद्द' पहिचानो॥

लाज गोत की राखेंगी, आभा पाये माँ प्यारी ।
जिससे शिक्षा पाती हैं, उसकी गायें जय, जय, जय ॥
जल-विद् है सच्चा परिवार, चाचाजी ने कहा पुकार ॥"

महाविद्यालय के जन्मोत्सव पर कन्याओं में चाचा जी 'जलविद् गीत' की स्फूर्ति और भावना विशेष रूप से पैदा किया करते थे। जलविद् माँ की सेवाओं का स्मरण करा कर उनमें उसके लिये सच्चा अभिमान भरा करते थे। वे कहा करते थे। कि "जलविद् देवियाँ सुनें और ध्यान लगा कर सुनें कि विद्यालय की महिमा इसके बाग और विशाल भवनों से नहीं, किन्तु सावित्री देवी-सी धर्मात्मा देवियों से हैं। पुत्री उर्मिला अपने श्वसुर-गृह में सानन्द विचर रही है। ग्राम की स्त्रियाँ उसके व्यवहार से बहुत प्रसन्न हैं। इस कन्या को सुशिक्षिता बनाने और उसमें उत्तम संस्कार डालने में विद्यालय को जो सफलता प्राप्त हुई। वह वास्तव में विद्यालय का एक विशाल ज्योतिस्तम्भ है। लाखों रुपयों की प्राप्ति से मैं इस सफलता का अधिक मान करता हूँ।" इसी प्रकार अध्यापिकाओं और अधिकारियों से आप कहा करते थे "कि तपस्विनी निष्कामव्रता सावित्री देवी ने जिस स्थान पर निज जीवन व्यतीत कर उसे पुण्य-भूमि तथा तीर्थ-स्थान बनाया है, आप उसी पर नियत हो कर स्त्री-शिक्षा, नहीं-नहीं, संसार की उन्नति का काम कर रही हैं। माता-पिताओं ने अपनी नन्हीं-नन्हीं बच्चियों को आपके सिपुर्द किया हुआ है, कुलीन परिवारों की स्यानी-स्यानी बेटियों को दूर-दूर से उनके संरक्षकों ने आपको

सौंप रखा है। एक महान् यज्ञ की आप होता हैं। एक महान् संग्राम की आप सेनानी हैं। भारतवर्ष आप की यज्ञ-शाला और समर-भूमि की ओर टकटकी लगाये देख रहा है। केवल हिन्दू ही नहीं, सरहद्दी भाई भी आप से शिक्षा दिलाने के लिये अपनी कन्याओं को विद्यालय में भेजने को तय्यार हैं। आप की कितनी बड़ी ज़िम्मेवारी है ? कितने विशाल काम को अपने आपने हाथ में लिया हुआ है ? आप घोरतम संग्राम में लड़ रही हैं। यह लड़ाई आज-कल में ही समाप्त न हो कर ख़ूब देर तक चलने वाली हैं। इसमें आपको आत्मबलि देनी होगी, अपने प्राणों तक को न्यौछावर करना पड़ेगा।··· ··अपने आचरण को ऊँचा बनाओ। कन्याओं पर अपनी पुस्तकों का इतना प्रभाव नहीं पड़ेगा, और आपके व्याख्यानों एवं गीतों का भी इतना प्रभाव नहीं पड़ेगा, जितना कि आपके हृदय का। अपने मन को पवित्रता से भर दो, सादा जीवन व्यतीत करो। निज कर्तव्य में कभी न चूको, प्रेम की मूर्ति बन जाओ, निज स्वार्थ का मलिन भाव अपने मन में तनिक भी न लाओ। बस यही साधन इस यज्ञ-पूर्ति और इस युद्ध के जीतने का है।"

स्नातिकाओं में इस स्फूर्ति और भावना को कायम रखने का भी आपने निरन्तर यत्न किया। १६३० के सालाना जलसे के लिये निकाली गई अपील में आपने उनको निर्देश करके लिखा था कि उत्सव से एक सप्ताह पहिले जलविद् पुत्रियों को प्रति दिन सौ बार गायत्री मन्त्र का जाप करके विद्यालय के लिये मङ्गल

प्रार्थना करनी चाहिये, जिसमें निम्नलिखित भाव हैं—प्रभु विद्यालय मेरा और मैं विद्यालय की हूँ। विद्यालय ने मुझ पर जो उपकार किये हैं, मैं उन्हें कभी न भुलाऊँ और शिक्षा को सफल करने तथा विद्यालय के लक्ष्य विद्यालाभ, कर्तव्य-पालन और सदाचार को पूरा करने में सदैव तत्पर रहूँ। प्रभु शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक तीनों प्रकार की उन्नति करती हुई, सब की उ.नति में अपनी उन्नति समझती हुई अपने देश का उद्धार करने में अपना तन-मन-धन लगाती हुई अपनी माँ के दूध को सफलाऊँ।'

क्वेटा की स्नातिका दुर्गावती २६ जून १६०४ को महाविद्यालय की उस समय की शिक्षा समाप्त करके जब बिदा होने लगीं, आपने उसको सम्बोधन करते हुये लम्बा भाषण दिया था। उस भाषण की भावना से भी महाविद्यालय के विराट् स्वरूप का कुछ परिचय मिलता है। उसमें आपने कहा था—"पुत्री दुर्गा! तुम जीवन-पर्यन्त पठन-पाठन में लगी रहो। अपने घर में पुस्कालय बनाओ।...... तुम देवी बनो। आनन्द-पूर्वक धर्मानुसार जीवन व्यतीत करो। निज परिश्रम से देश को सुखी बनाओ। तुम्हारे उद्यम से देश का सुधार हो, तुम स्त्री-जाति के लिये आदर्श बनो।... पुत्री दुर्गा! हमारी तो यह इच्छा है कि तुम में से प्रत्येक कन्या एक एक पाठशाला बन जावे, जिससे देश में कोई भी कन्या विद्याहीन न रहे—तुम्हारी विद्यारूपी गोद में खेली हो। और हमने तुमको शिक्षा-रूपी दूध से पाला है इसलिये आयु-पर्यन्त तुम्हारा और हमारा पिता-माता और पुत्री का सम्बन्ध रहेगा।"

१६३२ की २६ जुलाई को महाविद्यालय के अनाथालय की कन्या रामप्यारी का शुभ-विवाह हुआ। चाचाजी अस्वस्थ होने से डलहौज़ी गये हुये थे। यहाँ से अपनी शुभ कामना और आशीर्वाद भेजते हुये आपने लिखा था कि "माँ की शिक्षा और उपकार को सदा याद रखना और माँ से प्राप्त की हुई शिक्षा को फैलाकर सद्भाव और सेवा-भाव को पालन कर के माँ के यश को बढ़ाते हुये संसार का भला करना ही अपने जीवन का उद्देश जानते और मानते रहना।... .....दोनों कुलों के यश को तुम बढ़ाती रहना और उसे अपने जीवन का लक्ष्य समझना। मन को संभाल कर संसार में विचरना और वीरता के साथ अपने हृदय-रूपी वाटिका के फूलों की रक्षा करना। संसार की दौड़ में सदा आगे रहकर अपनी माँ की शोभा बढ़ाना। मीठी बात तथा मेहनती जीवन के गहनों से अपने आपको अलंकृत करके अपने रूप की वृद्धि का यत्न करना।"

कन्याओं में देशभक्ति और स्वदेशी की भावना भरने का भी आपने निरन्तर यत्न किया। कन्याओं को भरती करने के सम्बन्ध में जो सूचना निकाली जाती थी। उसमें लिखा रहता था कि "कन्या के पिता अथवा संरक्षक का उस ओर विशेष ध्यान होना चाहिये कि वह जब कन्या को दाख़िल करने के लिये लावें, तब उसके साथ कोई विदेशी वस्त्र अथवा वस्तु न हो। सब वस्त्र खादी (खद्दर) के तथा वस्तुयें स्वदेशी होनी चाहिये।"

सैकड़ों में से कुछ थोड़े से ही उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। इससे भी यह स्पष्ट है कि देवराज जी ने "चाचा जी" शब्द को सार्थक बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी। महाविद्यालय में ऐसा पवित्र पारिवारिक एवं अध्यात्मिक वातावरण आपने पैदा किया, जिससे प्रभावित हो कर सैकड़ों-हज़ारों माता-पिताओं ने अपनी सुकुमार पुत्रियों को जिन्हें कभी घरों की चहारदिवारी की अँधेरो में भी कठोर परदे की क़ैद में बन्द करके रखा जाता था, कि उन्हें, खुली हवा की लहरें और चमकते सूर्य की किरणों भ्रष्ट न कर दें,—आपके हाथों में सौंप दिया, केवल इस लिये कि वहाँ उनकी स्वाभाविक शक्तियों का विकास हो कर उनकी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति हो सकती थी। आप के प्रति जनता के विश्वास, आदर और श्रद्धा की इससे बढ़िया साक्षी और क्या चाहिये? लाखों रुपया आपकी झोली में डाला गया। उससे भी अधिक बड़ा भरोसा यह था कि माता-पिता ने अपने हृदय के टुकड़े अपनी सन्तान को आपके सुपुर्द कर दिया। महाविद्यालय की इस लोकप्रियता, आश्रम के इस आकर्षण और जनता की चाचा जी के प्रति इस श्रद्धा में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। कन्याओं की संख्या बराबर बढ़ती गई। चाचा जी के साम्राज्य का जलविद् परिवार चारों ओर फैलता चला गया। साथ-साथ जलविद् माता के यश और गौरव की सुरभि भी चारों दिशाओं में बिखरती चली गई।

१०—कन्याओं की भक्ति और उत्साह

"मुझसे लोग अक्सर पूछा करते हैं कि अगर मैं मर जाऊं तो स्त्री-शिक्षा और विद्यालय का काम कौन करेगा ? लाला रामकिशन, लाला मुंशीराम, लाला बद्रीदास और लाला काशीराम आदि साहेबान बहुत काम कर सकते हैं। लेकिन ज्यादातर काम मेरी वे कन्याये करेंगी, जिनको मैं शिक्षा दे रहा हूँ। सावित्री पर मुझे बहुत आशा है। देवो सुमित्रा यदि धर्मभाव में तरक्की करती गई, तो यह भी सहायता करेगी।" ये शब्द देवराज जी की २३ फ़रवरी १८९९ की डायरी में लिखे हुये मिलते हैं। करीब ४० वर्ष के महाविद्यालय के इतिहास से यह स्वतः सिद्ध है कि चाचा जी का स्वप्न पूरा हुआ। आपने अपनी पुत्रियों से जो उम्मीद की थी, वह पूरी हुई। वैसे तो महा-विद्यालय के संस्थापकों और निर्माताओं में कई स्वर्गीय और जीवित व्यक्तियों के नाम लिये जा सकते हैं और उनमें से प्रायः सभी ने अपनी शक्ति, सामर्थ्य, उत्साह एवं श्रद्धा के अनुसार महाविद्यालय को सफल बनाने का यत्न किया। लेकिन कन्याओं की भक्ति और उत्साह का रिकार्ड बहुत ही शानदार है। इतना शानदार कि महाविद्यालय के इतिहास में उसका

उल्लेख स्वर्णाक्षरों में किया जाता रहेगा। इस जीवनी के साथ भी उसका इतना गहरा सम्बन्ध है कि उसके बिना यह अधूरी रह जायगी।

कन्याओं से देवराज जी जो आशा रखते थे, उसके अनुसार उनमें भावना पैदा करने का भी आप निरन्तर यत्न किया करते थे। उसका ही यह शुभ परिणाम था कि कन्यायें विद्यालय के लिये कुछ न-कुछ करना अपना कर्तव्य समझा करती थीं। केवल चौथी श्रेणी तक पढ़ी हुई पुत्री परमेश्वरी का उदाहरण देवराज जी प्रायः बहुत गर्व के साथ सुनाया करते थे। कन्या-महाविद्यालय-ग्रन्थावली की "सुबोध कन्या" पुस्तक में भी आपने इस पर 'परोपकारिणी परमेश्वरी' नाम से एक पाठ दिया है। उसमें आपने इस कन्या के परोपकार की कहानी लिखते हुये लिखा है कि "जिन दिनों परमेश्री पढ़ा करती थी, विद्यालय का निजका कोई स्थान न था। किराये का एक साधारण स्थान ले कर निर्वाहमात्र किया जाता था। विवाह का समय निकट आने पर परमेश्वरी को विद्यालय छोड़ना पड़ा। एक बार उसके पिता चौधरी भागमल ने परमेश्वरी की परीक्षा ली। उसके भजन, कथायें और वेद-पाठ सुन कर वे अति प्रसन्न हो बोले—"पुत्री, मुझे बहुत खुशी हुई। तुमने थोड़े ही समय में बहुत शिक्षा प्राप्त कर ली। बताओ, तुम्हें क्या आभूषण बनवा दूं या क्या पारितोषक दूं ?" पुत्री ने कहा आप मुझे कुछ देना चाहते हैं, तो मेरी यह प्रार्थना है कि "अपना स्थान न होने

श्रीमती सावित्री देवी
विद्यालय की पहली आचार्या

से विद्यालय की उन्नति में बहुत विघ्न पड़ रहा है। हमारे घर के पास जो यह खुला मैदान है, यह विद्यालय को दे दीजिये। बस, मैं यही माँगती हूँ।" रात को नौ बजे परमेश्वरी के पिताजी ने देवराज जी को बुला कर उनसे कहा कि मेरा अमुक मकान और स्थान आप विद्यालय के लिये ले लीजिये। उन्होंने बताया कि अपनी लड़की के कहने पर मैंने यह निश्चय किया है। कल ही वकील के पास चल कर इसकी लिखा-पढ़ी करा लीजिये। देवराज जी ने समझाया और कहा कि इतना बड़ा दान यों ही लड़की के कहने पर नहीं दे दिया जाता। उन्हों ने कहा कि मैं संकल्प कर चुका और अब यह विद्यालय का हो गया। संयोग से लिखा-पढ़ी के पन्द्रह ही दिन बाद उनका देहान्त हो गया, लेकिन वे एक इतिहास पीछे छोड़ गये और जलविद् माता के प्रति अपनी कन्या के भक्ति व उत्साह की कहानी उस स्थान पर लिख गये, जहाँ कि इस समय नगर-विद्यालय फल-फूल रहा है। १६०३ में वहाँ इमारत बनी। इमारत के लिये विद्यालय की गुरुदासपुर की छात्रा पार्वती ने ८०० रुपये भेजे। जब उसको पता चला कि १८६० रुपये की लागत से वह भवन पूरा हुआ है, तब उसने बाकी रकम भी किश्तों में अदा करने का वायदा कर लिया। उस ज़मीन की कीमत ५००० से अधिक थी। इतना बड़ा और ऐसा सात्विक यह पहिला ही दान विद्यालय को प्राप्त हुआ था।

पण्डिता सावित्री देवी जी ने चाचा जी की इच्छा को आशा

से अधिक पूरा किया। उसके त्याग, तपस्या और सेवा-भाव की कीर्ति के गीत देवराज जी आजन्म गाते रहे। आप उसे विद्यालय की संस्थापिका के रूप में ही याद किया करते थे और सदा ही उसका आदर्श विद्यालय की लड़कियों एवं अध्यापिकाओं के सामने उपस्थित किया करते थे। मुजफ्फ़रगढ़ ज़िले की वह रहने वाली थीं। दस वर्ष की आयु में विधवा हो गईं। पिता जी का पहिले ही देहान्त हो चुका था। श्री हेमराज जी ने एक स्थानीय पाठशाला में पढ़ाना शुरू किया। बाद में जालन्धर भेजने का विचार किया। लगभग १८६४ में देवराज जी स्वयं जाकर सावित्री को मुज्जफ्फ़रगढ़ से जालन्धर ले आये। तब सावित्री चौदह वर्ष की थी। विद्यालय में उसका दिल न लगा। वह बड़ी उदास रहा करती थी। घूंघट किया करती थी। धीरे-धीरे उदासी दूर हुई और पढ़ने में दिल लगा। पढ़ाई में वह बड़ी होनहार और होशियार निकली। १८६२ में वह घर गई। किसी बात पर रुष्ट हो कर हेमराज जी ने उसकी सहायता बन्द कर दी। उसके लिये विद्यालय आना कठिन हो गया। वहाँ ही वह सरकारी पाठशाला में अध्यापिका का कार्य करके गुज़ारा करने लगी। पाँच साल बाद देवराज जी को पता चला कि केवल सहायता न मिलने से सावित्री जालन्धर नहीं आ सकी। हेमराज जी के नाराज़ होने पर भी आप उसको फिर विद्यालय लिवा लाये। अपने सब आभूषण आदि बेच कर वह ८६) साथ लाई और उसके सहारे कुछ पढ़ने की इच्छा

प्रगट की। अमरीका की चार्लस हावर्ड विद्यालय देखने आई थीं और पाँच साल के लिये ७५) वार्षिक का वजीफ़ा उन्हों-ने नियत किया था। वह सावित्री को दे दिया गया। सावित्री ने सुशिक्षित हो कर अपने को विद्यालय की सेवा में लगा दिया। विद्यालय की प्रगति की कोई ऐसी दिशा नहीं जिस में आपने काम नहीं किया। अध्यापक और अधिष्ठाता के दोनों ही कार्यों में आप अत्यन्त प्रवीण थीं। व्याख्यान-कला में निपुण थीं। १९०५ में अकेले ही बम्बई और दक्षिण भारत की यात्रा महाविद्यालय के प्रचार-कार्य के लिये की। ३ मास और १३ दिन आपको इस यात्रा में लगे थे। १९ सितम्बर १९०५ को बिदा हो कर २ जनवरी १९०६ को आप जालन्धर वापिस लौटी थीं। ४८९९ मील की यात्रा की। २३ व्याख्यान भिन्न भिन्न स्थानों पर दिये। महाविद्यालय की एक हज़ार रिपोर्टें बाँटी। ९०० रुपये चन्दा भी जमा किया। आचार्य कर्वे के हिंगणे आश्रम का अवलोकन कर वहाँ से महाविद्यालय के लिये "विधवा-आश्रम" स्थापित करने की स्फूर्ति लेकर आई। आपकी प्रेरणा से इसी वर्ष यह संस्था महाविद्यालय में कायम की गई। और आप उसकी पहिली अधिष्ठाता नियत की गईं। हैदराबाद रियासत का दौरा आपने श्रीमती काशी बाई के साथ उनके आश्रम के लिये किया। अपने महाविद्यालय के लिये वहाँ आप अधिक काम नहीं कर सकीं। दक्षिण भारत से लौटते हुये आप बनारस में काँग्रेस और सोशल कान्फ्रैंस में शामिल हुईं। वहाँ आप के भाषण हुये।

वहाँ से लखनऊ होती हुई जालन्धर लौट आई। पर दौरा जहाँ सावित्रीदेवी जी के लिये व्यक्तिगत दृष्टि से लाभदायक हुआ, वहाँ महाविद्याल को भी उससे बहुत लाभ पहुँचा। सावित्री देवी जी का यात्रा करने का हौसला बढ़ा, व्याख्यान देने के लिये दिल पूरी तरह खुल गया और विपरीत परिस्थितियों में भी काम करने का आपको अभ्यास हुआ। रामपुर आदि में जहाँ उन दिनों में जात-पात और खान-पान के बहुत अधिक बन्धन थे, आप के साथ अन्त्यजों का-सा व्यवहार होता था। कहीं कहीं आपको गैर-हिन्दू और मुसलमान तक समझा जाता था। भाषा की दिक्कत भी बहुत बड़ी थी। महाविद्यालय के नाम, सन्देश और गौरव की पताका दक्षिण भारत में फहराने वाली पहली देवी सावित्री जी थीं। अमृतसर के "हितकारी" ने आपके इस दौरे के बाद लिखा था कि "जो लोग कहा करते हैं कि उपदेशिकाएँ कहाँ से लाएँ, उनको चाहिये कि विधवाओं को वजीफे देकर शिक्षा प्राप्त करने को महाविद्यालय में भेज दें, ताकि वे श्रीमती सावित्री देवी जी सरीखी बन सकें।" देवराज जी के हर एक काम में वे हाथ बटाती थीं। पांचाल-पण्डिता के सम्पादन का वे बहुत-सा काम किया करती थीं। १९०३ में उसकी उपसम्पादिका नियुक्त कर दी गई थीं। टिप्पणियाँ और लेख बहुत योग्यता से लिखा करती थीं। उनमें नवीन विचार, भावना और स्फूर्ति रहती थी। 'इन्द्रियदमन' नाम की छोटी-सी पुस्तक भी आपने लिखी थी। 'विद्यालय मण्डली' की पहली प्रधाना आप ही चुनी गई थीं। देवराज जी के महत्त्वपूर्ण

दौरों में आप प्रायः साथ जाया करती थीं। १९१३ में महाविद्यालय की आप प्रथम आचार्या नियत की गईं। लेकिन देवराज जी को जैसे सब कन्यायें 'चाचाजी' कहा करती थीं वैसेही आपको 'बड़ी बहिन जी' कहा रहती थीं। इस नाम को आप अपने लिये अधिक उपयुक्त समझती थीं। स्वाध्याय का आपको बहुत शौक था। नित्य पढ़ने में मग्न रहा करती थीं। कन्याओं को यज्ञोपवीत पहिनाने की प्रथा का आपने ही श्रीगणेश किया था। आत्मा और मन के इतने उन्नत होते हुये भी तन आप को बहुत कमज़ोर मिला था। बायगोले की शिकायत आपको प्रायः रहती थी। १९१८ में इस बीमारी ने ज़ोर पकड़ा। दवा-दारु के लिये कलकत्ता भेजा। सर नीलरतन सरकार ने आपकी चिकित्सा की। लेकिन उनका भी बस नहीं चला। रोग को असाध्य जान कर आपको जालन्धर ले आया गया। २० अगस्त को पेट में दर्द उठा और महाविद्यालय का खिला हुआ फूल मुरझा कर ज़मीन पर गिर पड़ा।

उस समय आपकी आयु पैंतीस वर्ष की थी। चाचा जी बड़े अभिमान से सावित्रीदेवी को कहा करते थे कि "तुम विद्यालयरूपी वाटिका की पुष्प बनोगी।" आप का यह अभिमान पूरा हुआ। आपकी आँखोंके सामने वह फूल खिला, उसकी आभा के साथ-साथ उसकी मनोमुग्धकारी सुगन्ध भी आपकी आँखों के सामने ही चारों ओर फैली और अन्त में आपकी आँखों के सामने ही निठुर काल ने अपनी कठोर अंगुलियों में उसको निर्दयता-पूर्वक मसल दिया। इस समय जो दुःख आपको हुआ, उसका दर्द आजीवन बना रहा।

आपने १६०० में 'सावित्री-नाटक' लिखा था। और वह सावित्री जी को तब भेंट किया था, जब वह अभी पढ़ती थी। उस समर्पण की पंक्तियों में आपने लिखा था—"प्रिय धर्मात्मा पुत्री सावित्री! सुशीलता, धर्म-भाव, आज्ञापालन, विद्या-प्रेम के गुणों को धारण करती हुई, तुम वास्तव में विद्यालय का पुष्प कहलाने योग्य हो। तुम सी देवियाँ जब शिक्षा समाप्त करके कन्या महा-विद्यालय रूपी लता को जल-सिंचन करेंगी, तब कैसा आनन्द होगा?.........पितृस्नेह के साथ यह पुस्तक मैं तुम्हें समर्पण करता हूँ।" इन पंक्तियों से केवल देवी सावित्री के प्रति ही चाचा जी की भावना का पता नहीं चलता, लेकिन विद्यालय की समस्त कन्याओं से आप जो महान् आशा रखते थे उसका भी परिचय मिलता है। निस्सन्देह, देवी सावित्री ने चाचा जी की आशा को पूरा किया। महाविद्यालय में सावित्री जी का मृत्यु-दिवस प्रतिवर्ष मनाया जाता है। बागीचे में आप के नाम का एक कुंज बना हुआ है और विधवा-आश्रम के लिए ४० हज़ार की लागत से जो भवन बनाया गया है उसका नाम आप के नाम पर "सवित्री-भवन" रखा गया है। यहाँ एक और घटना का उल्लेख करना भी अत्यन्त आवश्यक है। सावित्री देवी जी के दक्षिण हैदराबाद में हुए भाषणों से ही भारत कोकिला श्रीमती सरोजिनी देवी के हृदय में व्याख्यान देने की स्फूर्ति पैदा हुई थी। इस सचाई को आपने महाविद्यालय में आने पर स्वयं ही अपने भाषण में स्वीकार किया था। पंजाब में सबसे पहिले आप महाविद्यालय के निमन्त्रण पर उसके उत्सव

में सम्मिलित होने के लिए पधारी थीं। तभी से महाविद्यालय पर आप का विशेष प्रेम है।

आप ही के समान अन्य अनेक कन्याओं ने भी जलविद् माता के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया। कुमारी लज्जावती जी ने, जिन्होंने चाचाजी के परलोकवास के बाद संस्था के प्रबन्ध का काम संभाला है, जलविद् माता की सराहनीय सेवा की है। जनवरी १६१७ में आपने महाविद्यालय के लिए ५० हज़ार जमा करने का संकल्प किया और उसको पूरा किए बिना महाविद्यालय में न आने का प्रण किया। आठ मास में आपने अपने इस प्रण को पूरा कर लिया। उत्तर-भारत में ऐसा प्रण करने वाली आप पहिली देवी थीं। महात्मा मुन्शीराम जी ने १८६८ में गुरुकुल की स्थापना करने के लिये ३० हज़ार जमा करने का ऐसा ही प्रण किया था। 'गुरुकुल' की कल्पना ही लोगों के लिये नयी थी। इसलिये उसको पूरा करने में आप को बहुत समय लगा था। सिक्खमहाविद्यालय फिरोज़पुर के लिये भाई तारासिंह ने ऐसी ही प्रतिज्ञा की थी। भारत में वे अपने प्रण को पूरा नहीं कर सके थे। इसलिये वे चीन जाने को तय्यार हो गए थे। महाराजा नाभा को यह अखरा और उन्होंने ७००० के लगभग शेष रुपया देकर उनकी प्रतिज्ञा पूरी कर दी। अपने प्रण की पूर्ति के लिये कुमारी लज्जावती जी ने अपने दौरे में जो भाषण दिये थे, उनका जनता पर बहुत असर पड़ा और महाविद्यालय के प्रति उसके प्रेम व आकर्षण की भी आशातीत वृद्धि हुई। समाचारपत्रों में आपके भाषणों

की रिपोर्टों के साथ महाविद्यालय की भी चर्चा होने लगी। उस दौरे में आपने उत्तर-भारत, बंगाल और सिंध में विद्यालय का सन्देश घर-घर पहुँचाने का सराहनीय काम किया। उपाचार्या, फिर आचार्या रह कर भी आपने विद्यालय की विशेष सेवा की है।

श्रीमती देवकी देवी और श्रीमती नारायणीदेवी जी पर भी महाविद्यालय जितना अभिमान कर सके, थोड़ा है। १६२६ में श्रीमती देवकी देवी जी ने १० हज़ार इकट्ठा करने का प्रण किया और अनायास ही उसे पूरा कर लिया। आपने यह प्रण इस भावना से किया था कि जो अध्यापिका जितनी वेतन लेती है, वह उतनी रकम जमा करदे कि उसके व्याज से वह पूरी होती रहे। जून १६२८ में अध्यापक और अध्यापिकाओं की एक सभा विद्यालय की आर्थिक अवस्था पर विचार करने के लिये हुई। उसमें आपने अपना यह विचार प्रकट किया और गले में झोली डाल कर निकल पड़ीं। चाचा जी के स्वर्गवास से कुछ ही दिन पहले आपने उनको एक पत्र लिखा। उसमें यह विचार प्रगट किया कि मैं विद्यालय से निर्वाह के लिये कुछ भी न लेकर अवैतनिक कार्य करूंगी। चाचा जी ने आप को ऐसा करने से बंद किया। पर आप अपने निश्चय पर दृढ़ रहीं और तबसे अवैतनिक कार्य कर रही हैं। नगर विद्यालय की सफलता का सारा श्रेय आपको ही है। श्रीमती नारायणी देवी जी ने तो अपने को महाविद्यालय के लिए चन्दा जमा करने को न्यौछावर हो कर दिया है। आपने

१९३० में ११ हज़ार इकट्ठा करने का प्रण किया और यह रकम इकट्ठी न होने तक एक ही समय भोजन करने का व्रत लिया। आपने युक्त-प्रान्त, मध्य-भारत, खानदेश और बिहार का विस्तृत दौरा किया। लगभग एक वर्ष में यह प्रण पूरा करके दोनों समय भोजन करना शुरू किया। १९३३–३४ में आप महा-विद्यालय के लिये चन्दा जमा करने के लिये अफ्रीका गईं। वहाँ से २१ हज़ार से अधिक साधारण-फ़ण्ड और ५ हज़ार अधिक इमारत-फ़ण्ड के लिये जमा करके लाईं। १९३५ में दिवंगत चाचा जी के स्मारक के लिए आपने दौरा किया। लगभग ८ हज़ार उसके लिये जमा किया। एक बार आपने फिर २५००) जमा किया और एक हज़ार अपनी आमदनी से विद्यालय की भेंट किया। इस समय भी स्वर्गीय चाचा जी के स्मारक के फ़ण्ड को पूरा करने में आप लगी रहती हैं। स्मारक को सफल बनाने में सब गौरव आप को ही दिया जाना चाहिये। श्रीमती शन्नोदेवी जी ने भी १ लाख जमा करने का प्रण किया और उसके लिये भारत, बर्मा और अफ्रीका का आपने दौरा किया। महाविद्यालय का "कृष्णा-हाल" स्वर्गीय कृष्णावती जी की स्मृति में बनाया गया है, जो उनके उस ३ हज़ार के शुभ-दान से बना है, जो वे अपनी मृत्यु के समय जलविद् माता की भेंट चढ़ा गई थीं। इसी प्रकार फ़िरोजपुर के लाला वीरबल जी की पुत्री भाग्यवती ने अपनी मृत्यु के समय १७०० रु० विद्यालय को भेंट किया था।

महाविद्यलय के डेपूटेशनों को प्राप्त होने वाली सफलता का

अधिकांश श्रेय महाविद्यालय की स्नातिकाओं और छात्राओं को है। आपने शहरों और गाँवों में वे विद्यालय की यथाशक्ति सहायता करने-कराने में सदा ही दत्तचित्त रहती हैं। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से छोटी-बड़ी सेवा करने वाली कन्याओं की बहुत बड़ी तालिका बनाई जा सकती है। स्नातिका होने के बाद कई मास और कई वर्ष लगा कर निष्काम भाव से विद्यालय की सेवा करने वाली कन्याओं की संख्या भी कुछ कम नहीं है। उनमें दुर्गावती जी के काम का उल्लेख करना ज़रूरी है। १९१३–१४ में आपने पाँच वर्ष जलविद् माता की सेवा के अर्पण करने का संकल्प किया था और उस संकल्प को आपने पूरी सचाई एवं सेवा-भाव से पूरा करके एक आदर्श स्थापित कर दिखाया। कन्याओं के इस सेवा-भाव, श्रद्धा-भक्ति और उत्साह के लिये देवराज जी को इतना अभिमान था कि जब लोग आप से पूछा करते थे कि आपका स्थिर कोष क्या है, तो आप कन्याओं की ओर इशारा करके कहा करते थे कि यह एक लाख है, यह दो लाख और यह पाँच लाख। गुरु गोविन्दसिंह जी की सेना की तरह आपके लिये कन्यायें थीं, जो एक-एक सवा-सवा लाख के बराबर थीं।

इसी प्रकरण में उन देवियों के नाम का उल्लेख करना अप्रासङ्गिक न होगा, जिन्होंने महाविद्यालय के इस परीक्षण को सफल बनाने में योगदान दिया है। उनमें सब से पहिला नाम पातुर की श्रीमती सुभद्रादेवी जी का है, जिन्होंने १९०३ से १९२० तक

माहविद्यालय के आश्रम-विभाग का कार्य पूरी योग्यता, लगन तथा मेहनत के साथ किया और आश्रम के अधिष्ठाता की समस्या से संचालकों को मुक्त कर दिया। आपकी सुयोग्य कन्या विद्यावती के नाम का भी आपके नाम के साथ उल्लेख करना ज़रूरी है। महाविद्यालय में गान-विद्या सिखाने के लिये कोई अध्यापिका नहीं मिलती थी। विद्यावती ने गान-विद्या का अभ्यास किया और महाविद्यालय की इस आवश्यकता की पूर्ति पूरी योग्यता के साथ की। माता काहनदेवी और श्रीमती टहल-देवी के नामों का दुबारा उल्लेख करना व्यर्थ है। उनकी सहायता न होती, तो शायद् चाचा जी के साम्राज्य की स्थापना ही न हो सकती। माई भगवती के पुण्य नाम का स्मरण तो चाचा जी स्वयं ही किया करते थे। आपने अजमेर जाकर महर्षि दयानन्द के दर्शन किये थे और उन्हीं से समाज-सेवा की स्फूर्ति ग्रहण की थी। सुभद्रा बाई जी से पहिले आप ही ने आश्रम के अधिष्ठाता का काम सम्भाला था। अपने गाँव हरियाना में आपने भगवती कन्या पाठशाला स्थापित की थी। आपको चाचा जी पञ्जाब में कन्या-शिक्षा एवं महिला जागृति का प्रवर्तक कहा करते थे।

कन्या परमेश्वरी की श्रद्धा-भक्ति का उदाहरण पाठक पीछे पढ़ आये हैं। उसकी माता चौधरानी मालनदेवी जी के नाम का भी इस प्रकरण में उल्लेख करना ज़रूरी है। श्रीमती टहलदेवी जी की सङ्गति से, जिनको आप 'भाभो जी' कहा करती हैं, आपका

शिक्षा की ओर झुकाव हुआ। आप महाविद्यालय की महिला-श्रेणी में दाखिल हुईं। परमेश्वरी ने अपने पिता चौधरी भागमल जी रईस से, जो म्युनिसिपल कमिश्नर, ज़ैलदार और शहर के प्रतिष्ठित सज्जन थे, पाँच हज़ार की कीमत की जो ज़मीन महाविद्यालय को दिलवाई थी, उसमें आपकी भी विशेष प्रेरणा थी। उसके बाद भी आप विद्यालय की मुक्त हाथों से सहायता करती रहीं और कई वर्षों तक मुख्य सभा की उपप्रधान रहीं।

ऐसे कितने नाम गिनाये जायें ? इस प्रकरण को समाप्त करने से पहिले एक और उदाहरण का उल्लेख करना आवश्यक है। यह देवराज जी की १८६४ की डायरी के ६ मार्च के पृष्ठ पर अङ्कित है। डायरी के उस पृष्ठ पर लिखा है कि महाविद्यालय के लिये कुछ दरियों की ज़रूरत थी। माता ने मुहल्ले की स्त्रियों को प्रेरित किया। उन्होंने एक-एक, दो-दो पाव सूत कात कर दिया और ज़रूरत पूरी हो गई। यह थी महाविद्यालय के प्रति महिलाओं की श्रद्धा और भक्ति, जिसका अपनी उपयोगिता से उसने अपने को अधिकारी बनाया था।

आज अपनी पुत्रियों को, जलविद् माता की कन्याओं को, अपनी प्रिय संस्था का संचालन और सम्वर्धन करते हुए देखकर निश्चय ही चाचा जी की दिवंगत आत्मा को सुख और शान्ति प्राप्त हो रही होगी। कन्याओं ने चाचा जी के जीवित रहते हुये जिस प्रकार उनके मिशन की पूर्ति में हाथ बटाया था, ठीक उसी प्रकार उनके बाद उस मिशन को अपने हाथों में लेकर यह सिद्ध

कर दिया है कि वे योग्य पिता की योग्य सन्तान, योग्य माता की योग्य कन्यायें हैं और अपनी शिक्षा को सफल एवं सार्थक बनाना जानती हैं। किसी संस्था की सफलता और उसके संस्थापक के मिशन की पूर्ति के लिये इससे बड़ा और क्या प्रमाण चाहिये।

तीसरा भाग

"आचार शुद्धि ही एक चीज़ है, जिससे संसार का उद्धार हो सकता है।"

"मनुष्य अपने व्यवहार से इज्जत पा सकता है; लेकिन जो लोग जबानी जमा-ख़र्च करते रहते हैं, वे न तो इज्जत पा सकते हैं और न कुछ और।"

२२ फ़रवरी १८६६ —देवराज

१. साहित्य-सेवा

२. डायरी के कुछ प्रृष्ठ

३. महान् व्यक्तित्व

१—साहित्य-सेवा

शिक्षा-शास्त्री और बहुत अधिक शिक्षित न होते हुये भी देवराज जी ने शिक्षा के क्षेत्र में एक अद्‌भुत परीक्षण को सफल कर दिखाया। इसी प्रकार साहित्यिक न होते हुये भी साहित्य के क्षेत्र में आपने ऐसा महान् कार्य किया, जैसा कि बहुत से साहित्यिक और साहित्य-सेवी भी नहीं कर सके। इस समय हिन्दी में बाल-साहित्य की कमी नहीं है। बालकों के लिये पत्र-पत्रिकायें भी स्थान-स्थान से प्रकाशित हो रही हैं। लेकिन कल्पना कीजिये ५० वर्ष पहिले की। तब 'वर्ण-परिचय' के लिये भी पुस्तक का मिलना कठिन था। नियमित पाठ–विधि की पुस्तकों की तो कल्पना करना भी संभव नहीं था। महाविद्यालय की स्थापना जिस प्रकार एक अभाव की पूर्ति के लिये की गई थी, वैसे ही महाविद्यालय के एक बड़े अभाव की पूर्ति के लिये देवराज जी ने साहित्य का निर्माण किया और यह यत्न इतना सफल हुआ कि उत्तर भारत की एक बहुत बड़ी कमी को उसने पूरा किया। महाविद्यालय में हिन्दी की पढ़ाई से शिक्षा का क्रम शुरू होता था और हिन्दी ही सारी पढ़ाई का माध्यम थी। इस लिये हिन्दी के साहित्य को विशेष ज़रूरत

थी। फिर जिस आदर्श को सामने रख कर महाविद्यालय की स्थापना की गई थी, उसी का पोषक साहित्य चाहिये था। उसका निर्माण दूसरों पर कैसे छोड़ा जा सकता था? 'अक्षर दीपिका' से लेकर सातवीं-अठवीं श्रेणी तक के लिये देवराज जी ने स्वयं ही पुस्तकें लिखीं। सम्भव है किसी को आपकी पुस्तकें सरस प्रतीत न हों और आपकी कविताओं में वह सौन्दर्य भी न दीख पड़े, परन्तु बच्चों में सादा जीवन और ऊंचा विचार पैदा करने की जिस दृष्टि से यह साहित्य लिखा गया है, उसमें यह सर्वथा पूर्ण है। बच्चों में सादगी, सरलता, पवित्रता, सात्विकता, वीरता, स्फूर्ति, चैतन्य, जागृति, देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता पैदा कर उसके विचारों को उदार, दृष्टि को विशाल सौर आत्मा को उन्नत बना कर उनका चरित्र-निर्माण करने के लिये वह साहित्य आज भी उतना ही उपयोगी है, जितना कि ५० वर्ष पहिले तब था, जब उसकी सृष्टि की गई थी। खेल-कूद में अक्षर-बोध कराने के साथ ही साथ जीवनोपयोगी बहुत-सी बातें सिखाने के लिये भी वह विशेष उपयोगी है। "पाठशाला की कन्या" पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में देवराज जी ने लिखा है कि "यह पुस्तक हिन्दी जगत् के प्रति मेरी पहली तुच्छ भेंट थी। इसके अनन्तर मुझे पहले की अपेक्षा हिन्दी लिखने का उत्तरोत्तर अधिक अभ्यास सा हो गया और मैंने अक्षर-दीपिका, सुबोध-कन्या, सावित्री-नाटक, पत्र कौमुदी आदि कई पुस्तकें रचीं। खेद है कि मैं उत्तम हिन्दी लिखना

नहीं जानता और न हम पंजाबी युक्त प्रान्तीय भाइयों की तरह उत्तम हिन्दी लिखने का दावा ही कर सकते हैं। परन्तु पुस्तक के भाव कन्याओं के लिये उपयोगी और शिक्षा-प्रद हैं, जिनसे उन्हें लाभ पहुँचा और पहुँच रहा है। इस लिये भाषा की त्रुटि की ओर ध्यान न दे कर मैं इसी में प्रसन्न और सन्तुष्ट हूं कि मेरा परिश्रम सफल हुआ और हो रहा है।" अपनी १६१६ की ११ फ़रवरी की डायरी में भी आपने लिखा है कि मैंने बहुत सी कवितायें रची हुई हैं। यद्यपि हैं तो ये कुछ भी नहीं, किन्तु कन्याओं को इनसे लाभ पहुँचा है। उनमें इनसे उमंग पैदा होती है।" इस लिये देवराज जी के साहित्य को साहित्यिक दृष्टि से न देख कर उसी दृष्टि से देखना चाहिये, जिससे उसका निर्माण किया गया है।

आपकी सब पुस्तकें महाविद्यालय के साहित्य-विभाग से प्रकाशित हुई हैं और वे सब महाविद्यालय की ही सम्पत्ति हैं। उनके साहित्य में प्रायः सब विषयों की और सब तरह की पुस्तकें हैं। कविता, नाटक, कहानी, सङ्गीत आदि सभी बालोपयोगी चीज़ें उनमें उपलब्ध हैं। खेल-तमाशे का साहित्य आपके साहित्य की एक विशेषता ही समझना चाहिये। आपके उपजाऊ दिमाग़ में खेलों के आविष्कार करने का विशेष मादा था। कहानियाँ कहना और लिखना भी खूब जानते थे। बच्चों की रुचि, स्वभाव और आयु आदि के अनुसार कहानी कहने में आपको कमाल हासिल था। जिस श्रेणी में जाते थे, उसी श्रेणी की कन्याओं की आयु

का बनना आपके लिये बहुत सहज था। इसी लिये उनके सर्वथा उपयुक्त साहित्य बनाने में आपको तनिक कठिनाई नहीं होती थी। आप के साहित्य का प्रचार भी खूब हुआ। इलाहाबाद के सुप्रसिद्ध पत्र "लीडर" ने ८ नवम्बर १६१७ के अङ्क में महाविद्यालय के सम्बन्ध में एक बहुत ही विस्तृत लेख लिखा था। उनके अन्तिम भाग में इस साहित्य की भी चर्चा की गई थी। इस में लिखा गया था कि "विद्यालय में" जो पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, वे विद्यालय के संस्थापक लाला देवराज जी की लिखी हुई हैं। हमें मालूम हुआ है कि ये पुस्तकें पंजाब व युक्त-प्रान्त की सरकारों ने भी लड़कियों के लिये मंजूर कर ली हैं। मराठी, तेलगू, गुजराती, आदि में उनका अनुवाद भी हुआ है।" पंजाब सरकार ने अपनी एक-एक पुस्तक की हज़ारों प्रतियाँ ख़रीदीं। १६०४ में आपको पंजाब सरकार की ओर से आपके बाल-साहित्य के लिये २००) पारितोषिक दिया गया। पुस्तकों को प्रकाशित-संख्या से उनकी लोकप्रियता एवं प्रचार का अनुमान-सहज में लगता है। कुछ संख्यायें यहाँ दी जाती हैं—'पाठशाला की कन्या'—२१०००, 'पहली'—"पाठावली"—७०५००, 'दूसरी पाठावली'—४३५००, 'सुबोध-कन्या'—१७०००, 'अक्षर-दीपिका' २७ वीं बार ४०००, 'शब्दावली'—१३ संस्करण कुल ७८०००, 'बाला-विनय'—१३५०००, 'पत्र-कौमदी'—२०५०० ग्यारह संस्करण, 'कथा विधि,—७२५००, कुल सोलह संस्करण, 'बालोद्यान-संगीत'... ३४०००। अन्य पुस्तकों के भी कई-कई संस्करण प्रकाशित हो

चुके हैं। सब मिला कर चार दर्जन के लगभग पुस्तकें आपने लिखी हैं।

सबका अलग-अलग परिचय देना कठिन है। केवल "सन्त वाणी" का थोड़ा सा परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह आप की सबसे अन्तिम और सबसे अधिक उत्कृष्ट कृति है। आप के प्रौढ़ विचारों का इसमें संग्रह है। नानक, कबीर, दादू आदि सन्तों के विचारों से 'सन्तवाणी' के विचार किसी भी दृष्टि से कम नहीं हैं। वैसी ही उदारता, सात्विकता, पवित्रता उसके पद्यों में पाई जाती है। १४, १५ वर्ष की आयु के बालकों को इसके पद्य याद कराने चाहियें। कुल इसमें ३५४ पद्य हैं। कुछ पद्यों का यहाँ उद्धरण देने से पुस्तक के सौन्दर्य का पूरा परिचय नहीं मिल सकता। इस लिये अच्छा हो कि देवराज जी की पुस्तकों से परिचय प्राप्त करने, उनके विचारों की पवित्रता को जानने और उनके साहित्य के सौन्दर्य को देखने की इच्छा रखने वाले यदि अधिक नहीं तो 'सन्तवाणी' को एकबार अवश्य पढ़ने का कष्ट करें।

देवराज जी को २० वर्ष की आयु से ही लिखने का शौक पैदा हो गया था। वैसे कलम चलाना आपने बहुत ही छोटी आयु शुरू कर दिया था। पत्रकार-जीवन में भी आप काफ़ी पहले प्रवेश कर चुके थे। उर्दू में कुछ ट्रैक्ट या निबन्ध भी आप लिख चुके थे। महाविद्यालय की स्थापना के बाद आपने हिन्दी को अपनाया। लिखने का भी उनको वैसा ही शौक था, जैसा कि स्त्री-शिक्षा का। स्त्री-शिक्षा-द्वारा यदि आप का लक्ष्य मुक्ति की साधना

करना था, तो इस साहित्य-द्वारा आप स्त्री-शिक्षा के लक्ष्य को पूरा करना चाहते थे। इस लिए साहित्य-निर्माण भी आपके लिये मुक्ति की साधना में शामिल था और उसकी साधना में आप तन-मन लगाकर लगे रहते थे। ज़मीदारी या साहूकारी का काम संभालने के लिये जब गाँव जाते थे, तब भी यह कार्य रुकता नहीं था। स्वास्थ्य-सुधार के लिये की गई पर्वत-यात्राओं और महाविद्यालय के लिए फ़ण्ड जमा करने अथवा प्रचार के लिए दिये गये दौरों में भी आप का यह कार्य निरन्तर जारी रहता था। १९३२ में स्वास्थ्य-सुधार के लिए की गई पर्वत-यात्रा की सौगात 'सन्तवाणी' थी।

आप की इस साहित्य-सेवा के पुरस्कार-स्वरूप ही आप को १९३३ के अप्रैल मास में जम्मू में होने वाले 'पंजाब प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति चुना गया था। उसमें आपने ठीक ही कहा था कि 'मैंने तब हिन्दी की तुच्छ सेवा शुरू की थी, जब यहाँ कोई हिन्दी का नाम भी नहीं जानता था। स्त्री-शिक्षा से मेरा अवश्य पुराना सम्बन्ध है। ....इसको मैं अपना सम्मान नहीं समझता, वरन् स्त्री-शिक्षा और कन्या महाविद्यालय का सम्मान समझता हूं।' हिन्दी-उर्दू-विवाद के सम्बन्ध में आपने कितनी सुन्दर राय प्रगट की थी? आप ने कहा था कि 'उर्दू हिन्दी में कुछ शब्दों के फेर-फार को छोड़ कर कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों का व्याकरण एक ही है। यदि दोनों की एक ही लिपि होती, तो उनके अलग अलग नाम होने पर भी दोनों में

वैसा ही नाम-मात्र का अन्तर होता; जैसा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में है। .... इसलिये हिन्दी के प्रचार को उर्दू का भी प्रचार समझना चाहिए। आगे आपने कहा था कि 'स्वराज्य प्राप्ति का एक उपाय एक राष्ट्रभाषा होना भी अवश्य है। इसी लिए हमारे देश के अनेक विद्वानों ने राष्ट्रभाषा की पुकार मचाई है और हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है। हिन्दी को हिन्दुस्तानी कहिये या उर्दू कहिए, बात एक ही है।" राष्ट्रभाषा हिन्दी कैसी हो, इस प्रश्न की चर्चा करते हुए आपने कहा था कि "वह सहज, सरल और बोलचाल की होनी चाहिये। हिन्दी और उर्दू में कुछ भी अन्तर नहीं रहना चाहिये यदि हम भाषा का भेद मिटाने में "समर्थ हुये, तो एक दिन लिपि का भेद भी मिट जायगा। भाषा के भेद के कारण भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में झगड़ा या विरोध नहीं होना चाहिये। सब समान अधिकार मिलना चाहिये। इन झगड़ों का प्रधान कारण हमारी पराधीनता है। हमें अपनी भाषा द्वारा अपनी फूट और दुर्बलता दूर करनी चाहिये। भाषा में मैले विचार नहां भरने चाहिये। उससे हमारे हृदय और भाव बिगड़ते हैं। जिस भाषा में गालियाँ बहुत होंगी, उसके बोलने वाले कभी अच्छे नहीं हो सकते। लेखक महाशय यदि उर्दू और हिन्दी में फ़ारसी और अरबी के कठिन शब्द न लिखें, तो दोनों भाषायें एक हो जायेंगी।" कितने उदार, पवित्र और परिष्कृत आपके विचार थे। बिलकुल इन्हीं के अनकूल आपका सारा साहित्य है। जितना

वह सरल और सहज है, उतना ही ऊंचे विचारों से वह सराबोर है। देश-सेवा और देशभक्ति की भावना से कोई भी पुस्तक खाली नहीं है। कोई कठिनता भी ऐसी नहीं, जिसमें देशभक्ति की भावना समाई हुई नहीं है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की उक्ति आपके साहित्य पर बिलकुल ठीक बैठती है।

आपके जीवन के व्यापक कार्य का साहित्य एक प्रधान अंग है। उस पर आपके व्यक्तित्व की इतनी गहरी छाप लगी हुई है कि उसकी उत्कृष्टता से आपके उत्कृष्ट व्यक्तित्व का भी काफ़ी आभास मिलता है। इस लिये आपके व्यक्तित्व को जानने के लिये भी आपके साहित्य का अनुशीन करना आवश्यक है। उसके लिये पाठकों को स्वयं ही थोड़ा कष्ट उठाना चाहिये।

२—डायरी के कुछ पृष्ठ

आत्म-परीक्षा या आत्म-सुधार की भावना से, मालूम होता है कि देवराज जी ने नियमित रूप से अपनी डायरी लिखने का नियम छात्रावस्था से, जब आप मैट्रिक में पढ़ते थे तब से, २० वर्ष की आयु में ही १८ अक्तूबर १८८० से शुरू कर दिया था। हर रोज़ रात को आप सोने से पहिले डायरी लिखा करते थे। और कभी-कभी कई दिनों की इकट्ठी भी लिख लिया करते थे। १८८० से १६०१ तक की डायरियाँ उर्दू में लिखी हुई मिलती हैं। उसके बाद १६१६ तक की डायरियों का कुछ भी पता नहीं चलता। फिर १६१६ से हिन्दी में डायरी लिखनी शुरू की गई। १६१८ से १६२४ तक छः साल डायरी नहीं लिखी गई। फिर १६२४ के २० नवम्बर से मध्य फ़रवरी १६२५ तक की डायरी उपलब्ध है। बाद में मालूम होता है कि डायरी नहीं लिखी जा सकी। बीच-बीच में भी कहीं-कहीं कई मास डायरी नहीं लिखी गई। कभी बीमारी, तो कभी अधिक काम की झंझट के कारण। आँखें दुःखने और गुर्दे के दर्द की आपको विशेष शिकायत रहती थी। कभी-कभी महीना-भर आँखों के कारण लिखने-पढ़ने का काम नहीं होता था। आलस्य या प्रमाद की वजह से कभी डायरी न लिखी गई हो,

ऐसा प्रतीत नहीं होता। हाँ मानसिक अवस्था के उद्विग्न रहने के कारण कभी-कभी डायरी नहीं लिखी गई। १६१८ से १६२४ तक डायरी न लिखने के कारणों का उल्लेख एक डायरी में एक जगह किया गया है। सम्भव है वे कारण अन्य अवसरों पर भी लागू होते हों। वे कारण निम्नलिखित हैं—

(१) सावित्री का देहान्त, जिससे मैं बहुत उदास हो गया। बहुत अच्छी देवी थी। करोड़ों में कोई होगी। मुझे उसके आत्मिक विचारों से विशेष सहायता मिलती थी।

(२) शारीरिक दशा भी अच्छी नहीं रही।

(३) राजनैतिक आन्दोलन। तलाशियाँ बहुत होती थीं। मैंने समझा कि डायरी किसी के हाथ में न आ जावे। इसमें कन्याओं के बारे में भी कई गुप्त बातें रहती हैं। वे सब की नज़रों में नहा पड़नी चाहिये।

(४) तीन वर्ष मैं विद्यालय के काम से उदासीन रहा, यह देखने के लिये कि अन्य स्त्री-पुरुष उसे कैसा चलाते हैं। इस लिये डायरी लिखने की ज़रूरत मालूम नहीं हुई।

सम्भव है १६०१ से १६१६ तक की डायरी इस लिये न लिखी गई हो कि वे दिन आर्यसमाज के लिये राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त संकटापन्न थे। उन दिनों में देश का राजनीतिक वातावरण भी बहुत गरम था। पंजाब में सरकारी अधिकारी आर्यसमाज को राजद्रोह का केन्द्र समझ कुचलने पर तुले हुये थे। संयुक्त प्रान्त के कुछ हिस्सों में भी ऐसा ही हाल था। पर,

ठीक ठीक कहना कठिन है कि इन चौदह वर्षों में डायरी लिखना क्यों बन्द रहा ?

निस्सन्देह, महापुरुषों की डायरियों और अन्य कथाओं का स्वाध्याय जितना मनोरंजक होता है,उतना ही उपदेशप्रद और स्फूर्तिदायक भीं। वे बनावट से सर्वथा रहित, स्वाभाविक होती हैं। उनसे महापुरुष के जीवन का यथार्थ चित्र देखा जा सकता है। चरित्र-नायक की डायरियाँ अधिकतर नोट के रूप में लिखी गई हैं, तो भी उनकी स्वाभाविकता एवं स्फूर्ति कुछ कम नहीं हुई है। लिपि उर्दू है और भाषा अजीब है, जिसमें हिन्दी और संस्कृत के शब्दों की अच्छी भरमार है। कहीं-कहीं अंग्रेज़ी शब्द भी उर्दू में ही लिखे गये हैं। यह वह भाषा है, जिसका सूत्रपात् पंजाब में आर्यसमाज ने किया था। हिन्दी पढ़ना तो आप जानते थे, किन्तु लिखना नहीं। इस लिये आप की उर्दू लिपि में हिन्दी का समावेश विशेष रूप में हो गया था।

डायरियों के कुछ स्फूर्तिदायक, भावपूर्ण और उपयोगी अवतरण केवल नमूने के तौर पर नीचे जिये जाते हैं। इनसे पाठकों को चरित्र-नायक को जानने एवं समझने में भी कुछ सहायता मिल सकेगी।

ईश-भक्ति

देवराज जी को अन्य अनेक महापुरुषों के समान ईश्वर पर असाधारण विश्वास, श्रद्धा और भक्ति थी। इसकी साक्षी डायरी में सर्वत्र मिलती है। ईश-भक्ति के सम्बन्ध में आप की धारणा

का पता १८८२ की डायरी से लगता है। उसमें लिखा है कि—

"व्यापार करो, तो सच बोलो और पूरा तोलो; यही ईश्वर की प्रार्थना है।

"नौकरी करो तो मालिक के फ़रमाबरदार रहो, यही ईश्वर की प्रार्थना है।

"हाकिम हो तो रैय्यत पर जुल्म न करो, इनसाफ़ करो, यही ईश्वर की प्रार्थना है।

"अमीर हो तो ग़रीब को देने के बाद आप खाओ, यही ईश्वर की प्रार्थना है।"

१८६६ की डायरी के अन्तिम पृष्ठों में लिखा है कि:—मेरा तो ईश्वर पर भरोसा है। उसकी दया से ही जो काम होता है, हो रहा है। मैं तो पापी और अधम था। मुझे ईश्वर ने बचा लिया। धन्य है, ईश्वर ! कहाँ तो वह देवराज, जिसको मालूम भी न था कि झूठ बोलना और विषय-वासना बुरी बातें हैं। अब हृदय में पवित्रता है। ईश्वर मेरी रक्षा करने वाले हैं। ईश्वर, अगर तुम्हारी सहायता न होती, तो मेरा मन कब पवित्र हो सकता था ? अब नित्य सन्ध्योपासना में मेरी प्रार्थना के भाव निम्न लिखित होते हैं:—

(१) ईश्वर की रचना आगाध है।

(२) ईश्वर सर्वव्यापक है।

(३) ईश्वर अविनाशी है।

(४) ईश्वर मेरे सच्चे सम्बन्धी हैं।

(५) ईश्वर पापों से निस्तार करने वाले हैं।

(६) ईश्वर सत्-ज्ञान, अनन्त और ब्रह्म हैं।

(७) ईश्वर ने ही विचित्र फूल रचे हैं।

(८) इसने ही नाना प्रकार के वृक्ष और फल बनाये हैं।

(९) मुझे जो सुख और कार्य करने की शक्ति मिली है, वह उसी के कृपा का प्रसाद है।

१०) वह रुद्र स्वरूप है।

"इसके बाद मैं मन को समझाया करता कि:—"

(१) दुनियाँ में नाम पैदा करने की इच्छा बेहूदा है। इसलिये निष्काम कर्म करना चाहिये।

(२) जल्दी से किसी के बारे में राय मत बनाओ।

(३) जो बात किसी से मुँह पर नहीं कह सकते, वह उसकी पीठ पीछे भी मत कहो।

(४) तुम्हारी जैसी इच्छा है कि लोग तुमको जानें वैसा ही बनने का यत्न करो।

(५) विषय-वासना निहायत ही ख़राब है, सुखदायी नहीं।

६) मौत के लिये तय्यार रहो। नेक काम करो।

(७) हे ईश्वर! मैं अपने जीवन के आदर्श को पूरा कर सकूं। ये कन्यायें देवयानी बनें। संसार में धर्म फैलायें।"

१९०१ की डायरी के पहिले पृष्ठ में वर्ष भर के लिये एक संकल्प किया है, जिस में कुछ पंक्तियों के हेर-फेर के साथ ऊपर की ही बातों को दोहराया गया।

अन्ध-श्रद्धा में अविश्वास

१८८० में चन्द्रग्रहण के अवसर पर स्नान न करके कुछ पानी नीचे गिरा दिया और डायरी में इस घटना का उल्लेख करते हुये लिखा है कि "चलो, लोग समझेंगे कि हमने भी स्नान कर लिया। ऐसी कड़ाके की सरदी में नहाना बीमारी को बुलाना है। यह सब मूर्खता है।

समाज-सुधार

"लाला बालकराम साहब का जालन्धर से ख़त आया है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि कल कमेटी बिरादरी शहर की हो कर निम्न फ़ैसले किये गये हैं:--(१) दाख़ला बन्द, (२) हज्जाम जो प्रति आदमी १) रुपया लाते हैं, वह बन्द। कुल ४) दिया जाय करें। (३) स्त्रियों का गन्दे गीत गाना बन्द किया जाय। खुदा का शुक्र है कि हमारे मुल्क में समाज-सुधार होने लगा है।"—६ अप्रैल १८८३।

"बाबा जी के सद्दे की तय्यारी करता रहा। अगर इतना रुपया कालेज में दे दिया जाता, तो संस्कृत का वजीफ़ा नियत हो जाता। क्या अच्छा होता कि बाबा जी के नाम पर ही यह वजीफ़ा रख दिया जाता।"—१४ अप्रैल १८८४।

मथुरा में आर्यसमाज

"सुबह मथुरा पहुँचे। आर्यसमाज का बोर्ड देख कर चित्त बड़ा प्रसन्न हुआ। मन्दिर ज़ेर-तामील है। खुला मकान है। पोप मण्डल के गढ़ में आर्यसमाज का होना आर्य पुरुषों के लिये अभि-

मान का मुकाम है। यहाँ के मैम्बर बहुत उत्साह से काम करते हैं। प्रधान एक रईस है। उसकी हिम्मत यहाँ तक है कि उसका एक जवान लड़का मर गया, तो लोगों ने कहा कि अब तो आर्य-धर्म छोड़ दो। इसी से तुम्हारा लड़का मरा है, इस पर उसने कहा कि "जब मेरा लड़का जवानी में ही मर गया, तो मुझ बूढ़े को अपनी ज़िन्दगी की बहुत कम उमीद है। इसलिये मैं आर्य-धर्म की सेवा और भी अधिक लगन के साथ करूँगा। सब मैम्बरान पढ़े-लिखे और प्रायः संस्कृत जानने वाले हैं।"—२० फ़रवरी १८८६।

विवाह की मर्यादा

"एक स्त्री के जीवित रहते पुरुष दूसरी शादी न करे। बाल-विवाह न हो। छोटी लड़की का जवान से और जवान लड़की का बूढ़े से विवाह न हो। विदुषी का मूर्ख से और विद्वान् का अशिक्षित से न हो। सारांश यह है कि विवाह गुण, कर्म व स्वभाव के अनुसार हो। दूर देश में हो। अच्छे कुल में हो।"—मार्च १८६२।

जीवन का ध्येय

"मुझे अफ़सोस है कि मुन्शीराम जी को इतनी ग़लतफ़हमी कैसे हुई? यह मेरा कसूर है कि मैं उनको प्रसन्न नहीं कर सका। यह माना की कई बातों पर हमारा मतभेद हो जाता है। मगर वह ऐसा नहीं कि उनको इतना नाराज़ होना पड़े। मैं कोशिश करूँगा कि आगे से ऐसा न हो। मुझे हर तरह से महाविद्यालय के।लिये काम करना है। स्त्री-शिक्षा मेरे जीवन का ध्येय है।"—१८६६।

झूठा परदा

"मैं नहीं जानता कि छोटी-छोटी कन्याओं के बाहर बैठने में क्या हरज है? बल्कि फ़ायदा ही है। हिन्दुओं में इतना परदा कहाँ है? मेले आदि में लड़कियाँ बराबर जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि लोग इनकी तरफ़ देखते हैं, तो मैं कहता हूं कि क्या चोर मालदारों की हवेलियों की तरफ़ नहीं देखते और क्या इस पर मालदार हवेलियाँ बनाना छोड़ देते हैं। ईश्वर हमारी कन्याओं को देवियाँ बनावें। ये साक्षात् धर्मरूपा हों। इनमें धर्म और आदर्श की भक्ति हद दर्जे की हो, जिससे ये अपने जीवन से लोगों को बता सकें कि स्त्री-शिक्षा का क्या लाभ है?"—जून १८९६।

महाविद्यालय का काम

"लोग यह समझते हैं कि मैं ख़ुद मुख्तार हूं, और मैं किसी की परवा नहीं करता। यह ग़लतफ़हमी है। मैं स्वयं चाहता हूं कि विद्यालय का काम किसी और के सुपुर्द कर दूं। काम तो सारी उम्र करना है। मगर ऐसे तरीके से करना चाहता हूं कि काम होता रहे और लोगों को पता भी न चले कि कौन करता है? मैं आगे होकर काम करने के विरुद्ध हूँ। इस समय सिर्फ़ इस लिये कर रहा हूं कि कोई दूसरा नहीं करता।"

—१ नवम्बर १८९७।

आत्म-विश्वास

"सहायक! क्या मैं अपने फ़ायदे के लिए निकाल रहा हूँ? कुछ लोग नुकता-चीनी करते हैं। मगर यह उनकी ग़लती है।

पन्द्रह साल हुए जब समाज की इब्तदाई हालत थी, तो मैं खुद ही इश्तहार लगाया करता था। खुद ही लोगों को;को बुलाया करता था और खुद ही लेक्चर व उपदेश दिया करता था। उस सब का फल निकला। इसी तरह 'सहायक' और 'पण्डिता' का भी फल निकलेगा। —'२६ जनवरी १८६६।

आचार-शुद्धि

'आचार-शुद्धि ही एक चीज़ है, जिससे संसार का उद्धार हो सकता है।' २४ फ़रवरी १८६६।

पर-निन्दा

''क्या मुझे पब्लिक के सामने..... .. की असल तसवीर पेश करनी चहिए? इस सवाल का जवाब देते हुए भय लगता है। न मेरे पास इतना समय ही है कि मै दूसरों की बुराइयों में पड़ूं?

जनवरी १६०१।

सारा दिन काम

"मैं अब खूब काम कर सकता हूँ। आज सारा दिन काम करता रहा। न थकावट हुई और न घबराहट। यदि मैं ईश्वर की आज्ञा में तत्पर न हो कर पापों में फँसा रहता, तो क्या मैं ऐसा कभी कर सकता? मैं कभी का मर गया होता। धन्य है ईश्वर, तूने मेरी रक्षा की।" —६ जनवरी १६०१।

विविध

"मनुष्य अपने व्यवहार से सब से इज्जत पा सकता है, लेकिन जो लोग जवानी जमा-खर्च करते रहते हैं वे न तो इज्ज़त पा

सकते हैं, न कुछ और।"

"मुझे इन्होंने नोटिस दिया है कि मेरे रहस्यों का उद्घाटन करेंगे। मैं नहीं जानता कि मेरे कौन से ऐसे रहस्य हैं, जिनका ये उद्घाटन करेंगे। मेरे में ऐसी कोई बात नहीं, जिस पर ये अंगुली उठा सकें।"

"हे ईश्वर! तुम्हारे आधीन सब कुछ है। यदि मैं अच्छा काम कर रहा हूं, तो नतीजा जरूर अच्छा होगा और बुरा कर रहा हूँ तो मुझे सफलता नहीं मिलेगी। तुम्हारे हाथ में सब कुछ है।"

"बढ़ना व घटना और उन्नति व अवनति अपने बस की बात है जैसा बोओगे वैसा काटोगे। आक बोकर फूल की इच्छा करना मूर्खता है। वे मनुष्य जो करते तो काम मन्दे और फल सुकृत कार्यों का भोगना चाहते हैं, उनके दिमाग़ में या तो ख़लल है और या उन्होंने अपने आप को सख्त धोखे में डाल कर अपने आप को बरबाद कर लिया है।"

संसार में सबसे बढ़कर वे मन्दभागी मनुष्य हैं जो अपने आप को धोखा दे लेते हैं। वे अपने मन को ऐसा अन्धा तथा कठोर बना लेते हैं कि वे कभी अपने दोष को स्वीकार नहीं करते वे दूसरों के कन्धे पर बन्दूक चला कर, गोली से दूसरे का बध करके भी अपने को निर्दोष समझते हैं। वे काम बिगाड़ कर कभी नहीं समझते कि उन्होंने काम बिगाड़ा है। उनकी मनोवृत्ति बिगड़ जाने से वे राक्षसी व्यवहार करते हुए भी अपने को देवता ख्याल करते हैं। उनकी नज़र बाहर को रहती है। वे अपने अन्दर नहीं

खोजते। मन मलिन हो जाने से उनके विवेक सत्ता में फरक आ जाता है और ऐसे मनुष्य जगत में यदि कुछ काल के लिये प्रसिद्धि भी लाभ कर जायें, पर अन्त को गिरते हैं। और बुरी तरह से गिरते हैं।"

कुछ कविताओं के अवतरण

(१)

आवो सखि सुसंगी, तन मन से, धन से चंगी।
व्यवहार में सुढंगी, निज देश वारी जाइए ॥
भारत मेरा प्यारा, भारत मेरा सहारा।
आंखों का मेरा तारा, निज देश हित बढ़ाइये ॥
शुभकाज देश सेवा, सेवा से मिलता मेवा।
तब वृत्त यह फलेगा, फल इसके खूब खाइये ॥
आओ सखि प्यारी, भारत को दें उभारी।
तब जन्मलाभ कारि जब देश काम आइये ॥

(२)

भला भारत बता हमको कि तूं आज़ाद कब होगा।
तेरी सन्तान उठ बैठे तेरा वह नाद कब होगा ॥
तेरे स्वराज्य का झण्डा उड़ेगा लहलहाता कब।
जो उजड़ा घर तुम्हारा है, कहो आबाद कब होगा ॥
तुम्हे हैं पड़ रहे धक्के सभी दुनियां के देशों में।
जगत की पार्लिमैंटों में तेरा गुणवाद कब होगा ॥
मिटेंगे दुःख कब तेरे, मिलेगा मान कब तुझको।

बता भारत, बता जननी, बिदा जल्लाद कब होगा ॥

(३)

भारत के हित बन पक्षी, हम बाग बनों में जायेंगी ।
देश देशान्तर घूम २ कर, निज सन्देश सुनाएंगी ॥
सोये पड़ों को कर उत्साहित, सन्मार्ग पर लावेंगी ।
नगर ग्राम में शिक्षा हेतु, सामवेद ध्वनि गावेंगी ॥
बिछुड़े भाई जो हैं सारे, उनका मेल करावेंगी ।
फूटादि जो भारत वैरी, मार के उन्हें भगावेंगी ॥
यश जेते हैं रूठे यहां से, सादर वापस लावेंगी ।
भारत हित-साधन के हेतु, पार समुन्दर जावेंगी ॥
रोक सकेगा हमें न कोई, बल से नाद बजावेंगी ।
शंख चक्र गदा धारण करके, अक्षय कीर्ति पायेंगी ॥
दक्षिण कर में पुष्प हमारे, बायें खड्ग उठायेंगी ।
वीणा अरु खरताली लेकर जग में शान्ति लाएंगी ॥
मधुर स्वरों से गीत सुनाकर, दुःख सकल मिटायेंगी ।
दण्डनीय को दण्ड ही देकर, रिपु-दल को कम्पायेंगी ।
प्रेम के सुन्दर जलधर बनकर, अमृत जल बरसावेंगी ।
विद्युत सम तेजस्वी होकर, तीक्ष्ण बाण चलावेंगी ॥
मित्रों को सन्मान दिलाकर शत्रु को कल्पायेंगी ।
ऊषा, आशा, शक्ति बनकर, जल-विद नाम धरायेंगी ॥

३—महान् व्यक्तित्व

"आप एक व्यक्ति के रूप में मातृ-जाति के लिये एक महान् संस्था थे"—एक वाक्य में देवराज जी के महान् व्यक्तित्व का असली चित्र खींचा जा सकता है। आपके लिये महाविद्यालय, केवल एक संस्था नहीं था बल्कि एक महान् मिशन था और उस मिशन के पीछे आपने अपने सारे जीवन, जीवन के पचास वर्ष, उसकी समस्त महत्वाकाँक्षायें, सांसारिक भोग-विलास की सारी इच्छायें न्यौछावर कर दी थीं। एक नामी रईस कुल में आपका जन्म हुआ था। घर में लाखों की जायदाद थी। दो भाइयों ने विलायत जा कर बैरिस्टरो पास की थी आप भी जैलदार और आनरेरी मजिस्ट्रेट थे। संसार जिसे 'वैभव' कहता और समझता है, वह सब आपको जन्म के साथ ही प्राप्त हुआ था। आप बिलकुल निश्चिंत हो कर सांसारिक दृष्टि से सुखी-जीवन बिता सकते थे। लेकिन, जिसके हृदय में दूसरों की दीन-हीन एवं पराधीन अवस्था के लिये दर्द पैदा हो जाय और जो दूसरों की ग़रीबी, संकट एवं दुखावस्था को दूर करने का संकल्प कर ले, वह कैसे ऐसा सुखी-जीवन व्यतीत कर सकता है ? देवराज जी के हृदय में यह भावना विद्यार्थी-अवस्था में ही पैदा हो चुकी थी। स्त्रियों के गंदे गानों और उनकी जहालत के

विरुद्ध आपका हृदय विद्रोह कर चुका था। उनका अविद्यान्ध-कार में पड़ा रहना आपके लिये असह्य हो गया था। इस लिये यह बिलकुल सहज और स्वाभाविक था कि मातृ-जाति का कायापलट करने का अवसर मिलने पर आप अपने को उसमें सर्वतोभावेन न लगा देते। आर्यसमाज के प्रचार का काम आपको इतना प्रिय था कि उसके पीछे घरबार तक का त्याग करने को आप तय्यार हो गये थे, लेकिन स्त्री-शिक्षा के लिये आपने उसका भी परित्याग कर दिया। समाज का प्रचार महाविद्यालय के सामने आपके लिये सर्वथा गौण हो गया। जिस दिन से आप उसमें लगे, वह आपके लिये साधना और समाधि के समान ऐसा अनुष्ठान हो गया कि आपने योगी की स्थिर मनोवृत्ति को भी मात कर दिया। संसार की मोह-माया से भरी हुई अकाँक्षाओं और धनधान्य के वैभव से पैदा होने वाली विलासितापूर्ण वासनाओं पर विजय प्राप्त कर के ही आपने अपने को उस अनुष्ठान में लगाया था। लेकिन इसमें जिस तत्परता और तल्लीनता का आपने परिचय दिया, वह महापुरुषों में भी विरलों ही में पाई जाती है। कितने हैं जो भयानक उथल-पुथल में, अत्यन्त उत्तेजित राजनीतिक वातावरण में और धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के ताण्डव-नृत्य में भी अविचल भाव से अपने ही मिशन में लगे रह सकते हैं। पचास वर्षों में धार्मिक कलह, सामाजिक, संघर्ष, आर्थिक संकट और राजनीतिक विप्लव की कितनी ही लहरें

उठीं, लेकिन वे सब आपके दृढ़ संकल्प की उस चट्टान से टकरा कर वापिस लौट गईं, जिस पर महाविद्यालय की स्थापना की गई थी। धुन के पक्के और लगन के सच्चे देवराज जी के धीर-वीर और साहसी हृदय पर उन लहरों का कुछ भी असर नहीं हुआ। विघ्न विरोध और बाधाओं के जिस तूफ़ान का सामना आपको करना पड़ा, उनमें हिम्मत न हारना आपका ही काम था। लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा को जीतने का जो आदेश या उपदेश संन्यासियों को दिया गया है, उसका पूरी तरह पालन आपने "महाविद्यालय" की दृष्टि से किया। महाविद्यालय की स्थापना के दिन से जिस पूजा में आपने अपने को लगाया, आजीवन उसी के पुजारी बने रहे। आपकी पूजा सफल और सार्थक हुई। उसमें आपने अपने इष्ट का दर्शन कर मुँहमाँगा वरदान पाया।

कन्याओं को केवल साक्षर करना ही 'महाविद्यालय' का लक्ष्य नहीं था। मातृ-जाति में चहुँमुखी क्रान्ति पैदा कर उसका कायापलट करने के लिये आपने अपने को 'महाविद्यालय' के काम में लगाया था। निस्सन्देह, महाविद्यालय का यह लक्ष्य और आपका यह मिशन आप के जीवन-काल में ही पूरा हो गया। १६३० के सत्याग्रह में, नमक-कानून के विरुद्ध हुये आन्दोलन में; पहिली बार भारत की महिलाओं को सब झिझक, संकोच एवं भय छोड़ कर सार्वजनिक क्षेत्र में आते, देश की आज़ादी की लड़ाई में अपूर्व साहस, अलौकिक वीरता,

लोकोत्तर त्याग एवं असीम आत्मोत्सर्ग का विलक्षण परिचय देते और चण्डी, दुर्गा तथा लक्ष्मी बाई के रूप में उनको मैदान में उतरते देख कर, आपका हृदय गद्गद हो जाता था। आपको ऐसा अनुभव होता था; जैसे आपकी तपस्या सफल हो गई हो। आप बिलकुल ठीक कहा करते थे कि "भारत को स्वराज्य मिले या न मिले किन्तु मुझे तो मिल गया। मेरे जीवन का मिशन पूरा हो गया। भारतीय महिलाओं की जागृति का जो स्वप्न मैं देखा करता था; वह सत्य सिद्ध हो गया।" बिना किसी भय और संकोच के महाविद्यालय को और उसके नाते देवराज जी को पंजाब में केवल स्त्री-शिक्षा किन्तु महिलाओं की जागृति का पथ-प्रदर्शक कहा जा सकता है। यही आपके जीवन का महत्वशाली और गौरवपूर्ण कार्य है; जो आपके जीवन और व्यक्तित्व को महापुरुषों की श्रेणी में ले जा बिठाता है।

आर्यसमाज और महाविद्यालय के नाते आपने समाज सुधार-क्षेत्र में भी कुछ कम काम नहीं किया। आप उन समाज-सुधारकों में से नहीं थे, जो केवल दूसरों के लिये समाज-सुधार का उपदेश या प्रचार करते हैं। आप आचार-प्रधान-धर्म के उपासक थे। कोरे प्रचार-प्रधान-धर्म से आपको सख्त नफ़रत थी। मन, वचन, कर्म में एक होने का जो लक्षण महापुरुषों का शास्त्रों में बताया गया है वह आप पर बिलकुल ठीक बैठता था। आप जैसा कहते थे; वैसा करते थे और जैसा करते थे वैसा ही कहते थे। आपके विचार-आचार और प्रचार का धर्म भिन्न भिन्न

नहीं था। सच तो यह है कि आपका जीवन ही धर्ममय और प्रचारमय था। वह एक जीती-जागती और चलती-फिरती संस्था था। बिना व्याख्यान दिये भी आप अहोरात्र निरन्तर उस संस्था द्वारा प्रचार का कार्य करते रहते थे। आपके महान् और आकर्षक व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आप किसी भी काम को ऐसा हेय न नहीं समझते थे, जिसके करने में अपना छोटापन अनुभव करते हों और न इतना महान् ही मानते थे, जो आपके लिये असम्भव हो। जो भी नया काम हाथ में लिया, सब से पहिले अपने को उसके उपयुक्त बनाया। ऐसा उपयुक्त कि देखने वाले हैरान रह जाते थे। वे समझते थे कि आपने उस काम के करने की कहीं शिक्षा प्राप्त की है। आर्यसमाज में आये तो समस्त वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय और अनुशीलन करके अपने को दृढ़ आर्य ही नहीं बनाया, बल्कि उपदेशक, भजनीक और प्रचारक भी बना लिया। इसी प्रकार महाविद्यालय का काम संभाला, तो उसकी ऐसी कोई दिशा नहीं रही जिस में आपने सफलता-पूर्वक काम नहीं किया। आप संस्था के केवल संस्थापक ही नहीं थे, बल्कि उसके संचालक, संवर्धक, पोषक आदि सभी कुछ थे। लड़कियों को पढ़ाने, उनकी देख-भाल करने, उनके लिये पुस्तकें लिखने, संस्था के लिये फ़ण्ड जमा करने, उसके लिये आन्दोलन करने, उस पर होने वाले आक्षेपों का जवाब देने, उसकी इमारतें बनाने और उसका बगीचा लगाने एवं सँवारने तक का सब काम

भी आपने अकेले ही किया। लड़कियों के जीवन को बढ़िया ढाँचे में ढालने के साथ-साथ वहाँ के बगीचे के पौदों का साल। शृंगार भी आप अपने ही हाथों से किया करते थे। जिस प्रकार कन्याओं के सुकुमार जीवन की आप रक्षा किया करते थे, उसी प्रकार बगीचे में फूटने वाले अंकुरों और उसमें खिलने वाली कोमल पत्तियों की रक्षा भी आप स्वयं ही किया करते थे। खेत में हल चलाते, पानी-मिट्टी में हाथ सानते और घुटनों तक कपड़ा चढ़ा कर फावड़ा हाथ में लिये आपको देख कर लोग अचरज में रह जाते थे। उनको क्या पता था कि संस्था के संचालक को अपना जीवन उसकी नींव में, खेत में डाले हुये बीज की तरह गल्ला देना होता है। महाविद्यालय के लिये तो आपने सहस्रबाहु हो कर काम किया और असाधारण कार्य-क्षमता का परिचय दिया।

१६०९ में लाहौर में काँग्रेस के साथ होने वाली 'इंडिएयन नेशनल सोशियल कान्फ्रेन्स' के आप स्वागताध्यक्ष चुने गये। आपने उस समय जो भाषण दिया था, वह बहुत ही प्रभावशाली और विद्वत्तापूर्ण था। उसमें आपने स्त्री-शिक्षा और समाज सुधार पर विशेष ज़ोर दिया था। समाज-सुधार के लिए आपने आत्म-सुधार को बहुत ज़रूरी बताया था। बचपन की शादी के सख्त विरोधी और स्त्रियों की स्वाधीनता के अन्यतम समर्थक थे। बिरादरी की आपको समाज-सुधार के लिये तनिक भी परवाह नहीं थी। जिस काम को ठीक समझते, उसको करने से आपको

कोई हटा नहीं सकता था। दलितों के प्रति होने वाले अन्यायपूर्ण व्यवहार से आपका हृदय जला करता। किसी के भी यहाँ भोजन करने में आपको परहेज़ न था अन्तर्जातीय और विधवा-विवाह के भ आप समर्थक थे।

प्रकृति और संगीत से आपका विशेष प्रेम था। आप प्रतिवर्ष पर्वत-यात्रा के लिये अवश्य जाते थे। आपकी डायरियों और पुस्तकों में सर्वत्र प्रकृति की अपूर्व छटा का सुन्दर वर्णन किया हुआ मिलता है। 'सन्तवाणी' में भी जगह जगह पर प्रकृति की शोभा का सुन्दर चित्र अङ्कित किया गया है। उसमें एक जगह लिखा है कि :—

"किसी ने सन्त से पूछा, नज़ारा कौन सा अच्छा ?
कहा बादल की धुनखी का उदय और अस्त सूरज का ॥
नज़ारा बन समुद्रों का तरंगों के विलासों का।
नाज़ारा बादलों का है बिजली के सुहासों का ॥
पतिव्रत धर्म के गुण का, छमाछम बरसना मेंह का।
सदाचारी की शोभा का, औ पति की प्रेम सेवा का ॥

स्वभाव आप का अत्यन्त सादा, सरल, मिलनसार, उदार और निरभिमानी था। एक शब्द में आपको 'देव' या 'सन्त' कहा जा सकता है। छोटे-बड़े, ग़रीब-अमीर, सभी के साथ बड़े प्रेम और सहानुभूति से मिलते थे। शहर के सभी लोग आपका आदर करते थे। बच्चों के साथ बच्चा बनने का आपको खूब शौक था। इस में आप खूब निपुण और प्रवीण थे। विद्या-

लय में दो दिन रहो हुइ भी कोई कन्या कहीं दीख पड़ती थी, तो आपके हृदय में ममता का समुद्र उमड़ पड़ता था। उसके लड़कों को सिर पर चढ़ा लेने और कंधों पर उठा लेने में आपको एक मिनिट का भी समय नहीं लगता था। आप भावुक भी पहले दर्जे के थे। कभी दिल्ली गये थे, तो वहाँ के लाल किले की वर्तमान हालत देख कर आप के हृदय में वैराग्य पैदा हो गया था। आम और सिंघाड़ों की आपको विशेष रुचि थी। खेतों में से हरी चीज़ें चने-गाजर-मूली आदि तोड़ कर खाने का भो आप को शौक था। त्यौहारों को बड़ी आयु में भी बड़े चाव से मनाया करते थे। बन-भोजों का भी आपको बहुत शौक था। कन्याओं को आस-पास के विशेष कर अपनी ज़मीदारी के गाँवों में आप प्रायः बन-भोज के लिये ले जाया करते थे। मिलनसार ऐसे थे कि किसी को एक बार मिल लेते तो कभी भूलते नहीं थे और मिलने वाले के हृदय पर भी एक अमिट छाप लगा देते थे। क्षमा-भाव भी आप में कमाल का था। विरोध पर ज़रा भी चल-विचल न हो कर अपने निश्चय पर दृढ़ रहते थे। अपने लिये 'शरादपि कठोराणि' और दूसरों के लिये 'मृदुनी कुसुमादपि' का कथन आप पर सोलह आना ठीक बैठता था।

जनता का विश्वास भी आपने ऐसा प्राप्त किया कि बहुत कम लोग उसे प्राप्त कर सकते हैं। हज़ारों लाखों रुपया ही नहीं किन्तु अपनी कन्याओं को भी आपके हाथों में सौपने में

लोगों को संकोच नहीं हुआ। यह विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ता हो चला गया।

आपने सार्वजनिक जीवन में कट्टर आर्यसमाजी के रूप में प्रवेश किया। धर्मान्ध लोगों की तरह खण्डन-मण्डन और शास्त्रार्थों में भी आप भिड़े रहे। जैनियों, पुराणियों किरानियों और पुरानियों का खण्डन करने में आपने कोई बात उठा नहीं रखी। उन दिनों में आप पर धर्मान्धता और कट्टरपन का खूब गहरा रंग चढ़ा हुआ था। महाविद्यालय का काम हाथ में लेने के बाद यह कट्टरपन और धर्मान्धता दूर हो गये। हृदय में सहिष्णुता और उदारता का साम्राज्य छा गया। सब महापुरुषों के लिये आपके हृदय में श्रद्धा और आदर भाव कुछ ऐसा पैदा हुआ कि आप उन सभी का आदर्श अपनी कन्याओं के सामने उपस्थित करने लगे। उसी का परिणाम यह था कि महाविद्यालय की धार्मिकता में कट्टरता और राष्ट्रीयता में साम्प्रदायिकता का लव-लेश भी नहीं रहा। वहाँ के रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा और आचार-विचार में सहिष्णुता और उदारता चारों ओर छाई हुई है। आश्रम के मुख्य द्वार में प्रायः सभी आर्य गुरुओं के चित्र लगाये गये हैं, जिससे उन सभी का आदर्श कन्याओं के सामने सदा ही बना रहे। आपका साहित्य भी सहिष्णुता के इन भावों से ओत-प्रोत है। डायरी में एक जगह लिखा है कि "हज़रत मुहम्मद साहब की जीवनियाँ पढ़ीं और उसके लिये श्रद्धा का भाव हृदय में दृढ़ हुआ। वह बहुत अच्छे पुरुष थे।

हिन्दुओं ने उन पर दोष लगाने में ग़लती की है। इसमें उनके नाम मात्र के अनुयायियों के आचरण का भी दोष है।" इसी प्रकार 'जलविद् सखा' के जून १६३१ के अङ्क में आपने लिखा था कि मुसलमानों के नबी या पैग़म्बर हज़रत मुम्मद में बहुत सारे गुण थे। इन्हीं गुणोंके प्रभाव के कारण थोड़े ही समय में सारे अरब और अन्य देशों में उनका मत फैल गया। शोक है कि वर्तमान समय के मुसलमान हज़रत मुहमम्द साहब के बताये हुये सिद्धान्तों को पहिले तो जानते ही नहीं और जो जानते भी हैं, उनमें से बहुत थोड़े उन पर आचरण करते हैं। यदि अपने नबी की शिक्षा तथा हिदायतों पर हमारे मुसलमान भाइयों का आचरण होता, तो संसार का इतिहास आज कुछ और ही होता। हज़रत मुहम्मद ईश्वर-भक्त थे। ईश्वर पर उन्हें पूरा भरोसा था कुरान प्रभु-भक्ति से भरपूर है। ईश्वर-आराधना पर हज़रत मुहम्मद बहुत ज़ोर देते थे। उनमें नम्र-भाव कूट-कूट कर भरा हुआ था। वह किसी को पहले सलाम करने का मौका नहीं देते थे। पहिले आप ही सलाम करते थे। उनके जीवन में बड़ी सादगी थी, वह चटाई पर सोया करते थे। उनके घर की सामग्री बहुत थोड़ी और कम कीमत की थी उन्हें जब आत्म-बल की ज़रूरत होती तो उसके लिये मक्का से कुछ दूर पर्वत की हुरा नामी गुफ़ा में एकान्त में बैठ ईश्वर से बल के लिये प्रार्थना किया करते थे। उनका हृदय विशाल था। वह क्षमाशील थे।"

हज़रत मुहम्मद के समान अन्य महापुरुषों का आदर्श भी

आप अपनी कन्याओं के सामने सदा उपस्थित किया करते थे। 'जलविद् सखा' की अगस्त १९३२ की संख्या में आपने लिखा है कि 'जगत् को जगाने के लिये पहिले स्वयं जागो। जगत् को चलाने के लिये पहिले स्वयं चलो। जगत को उठाने के लियेप हिले स्वयं उठो। यही सनातन धर्म और सुपरीक्षित उपाय है। तपे बिना सोना चमकता नहीं। उसकी चमक हथौड़े से पिटे बिना नहीं बढ़ती। जैसे खरल में हज़ारों बार पिसने के बिना योगराज गुग्गल तय्यार होकर रोगहारी शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, वैसे ही बिना कष्ट उठाये, बिना त्यागभाव दिखाये और बिना अपनी आहुति दिये कोई भी सुधारक संसार की सेवा का सौभग्य प्राप्त नहीं कर सकता। यदि रामचन्द्र बनवास का कष्ट न उठाते, यदि बुद्धदेव राज्य-सुखों को लात मार कर भिक्षुक न बनते और यदि हज़रत ईसा को शूली पर न लटकाया जाता, तो उनके उद्देश्य को सफलता का मुँह क्या कभी दिखाई दे सकता था?' इसी प्रकार एक और लेख में आपने लिखा था कि 'लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा को छोड़ कर धर्म-कार्यों में लगो,—यही वेद कहता है, इसी को गीता ने गाया और इसी पर महात्मा बुद्ध ने ज़ोर दिया, नानक, कबीर और गान्धी ने भी यही उपदेश दिया, महात्मा, ईसा ने भी यही कहा है, सबका यही उपदेश और यही आदेश है।' इस प्रकार आप सदा ही अपनी कन्याओं के सामने सभी धर्म-गुरुओं के आदर्श को उपस्थित करते रहते थे। यह थी सच्ची सहिष्णुता और उदारता, जो आपके जीवन में ओत-प्रोत थी

और महाविद्यालय के सारे वातावरण में व्यापी हुई थी।

'सन्तवाणी' में आपने 'निज राज्य' का कैसा सुन्दर चित्र अङ्कित किया है। देखिये:—

"किसी ने सन्त से पूछा, किसे निज राज्य हैं कहते।
बसें नर नारियाँ जिनमें, सभी अधिकार समता से॥
न झगड़े मज़हबी कुछ हों, न मस्जिद मन्दिरों हो के।
मुलानों और पाँधों के, न हों निज राज में झगड़े॥
मनाये वाँ कोई ईदी, बजाये याँ कोई घण्टी।
ग्रन्थ अपना पढ़े कोई, न हो तकरार किंचित् भी॥
व्रती हो या रखे रोज़ा, चाहे जाये कोई गिरजा।
करें जो मन में हो इच्छा, किसी से पर न हो झगड़ा॥"
मुलानों और पाँधों की, सिखावट है नहीं अच्छी।
बचो इससे जो है बचना, मिलेगी तब ही आज़ादी॥
कहीं निर्धन नहीं कोई, न कोई दीन बेकस है।
सभी राजा सभी साधू, यही निज राज का यश है।'

यह सहिष्णुता और उदारता देवराज जी के महान् व्यक्तित्व की उत्कृष्ट और अनुकरणीय विशेषता है। यदि इस अभागे देश के निवासी इस विशेषता और सद् गुण को अपने लिये आदर्श बना सकें तो साम्प्रदायिक झगड़ों का अन्त होने में अधिक समय नहीं लगे।

अपने आदर्श को व्यावहारिक रूप देने में भी आप कभी पीछे नहीं रहते थे। जालन्धर में मुसलमानों की भी एक
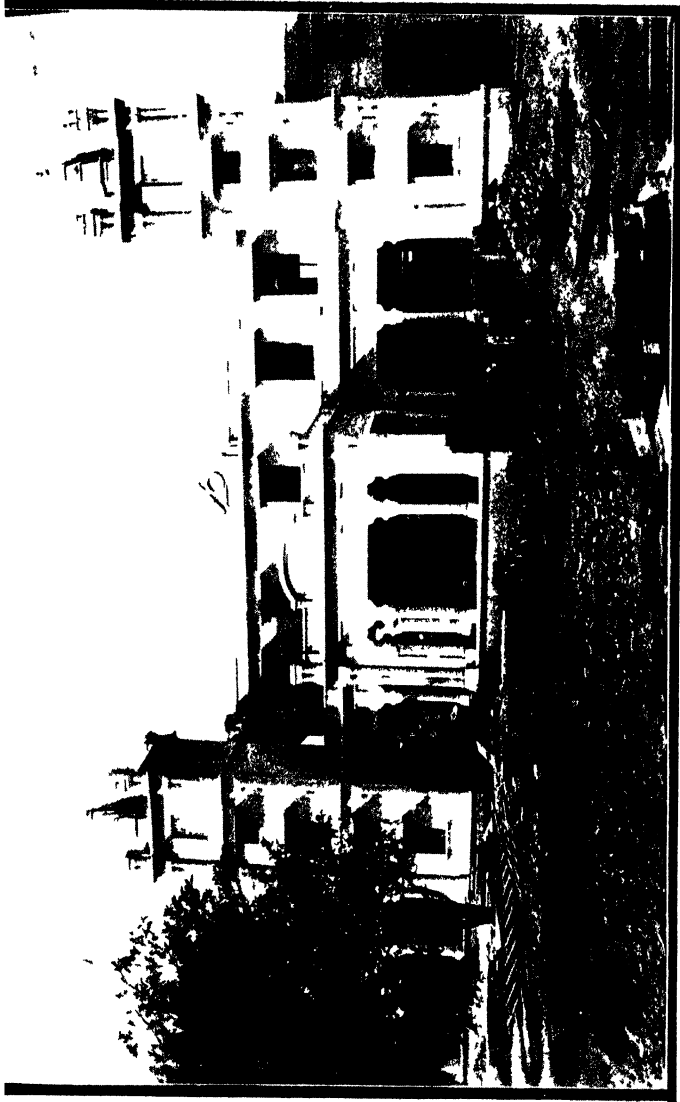
देवराज-भवन —स्वर्गीय श्री देवराज जी के स्मारक-रूप निर्मित

कन्या पाठशाला है और उसका अपना आश्रम भी है। देवराज जी ने उस पाठशाला और महाविद्यालय में भाईचारा कायम करने का यत्न किया। अपने त्यौहारों के अवसरों पर महाविद्यालय की कन्यायें मुस्लिम पाठाशाला की कन्याओं को फल आदि और मुस्लिम कन्यायें ईद आदि त्यौहारों पर खाने-पीने का सामान भेजा करती थीं। आमों की मौसम में आमों के टोकरे भेजा करते थे। करतारपुर या कपूरथला सैर के लिये जाने पर जब कन्यायें वहाँ के गुरुद्वारे देखने जाया करती थीं, तब उन पर महाविद्यालय की ओर से एक रुपया भेंट चढ़ाया जाता था। गुरुनानक का जन्म भी महाविद्यालय में विशेष उत्साह के साथ मनाया जाता था। यह है महाविद्यालय का जीवन, जो लड़कियों में सच्ची धार्मिकता तो जगाता है, लेकिन कट्टरता नहीं पैदा होने देता और वह उनमें राष्ट्रीय-भावना तो भरता है, लेकिन साम्प्रदायिकता का विष नहीं उत्पन्न होने देता।

हज़रत मुहम्मद की जीवनी के समान देवराज जी ने महात्मा बुद्ध और ईसा मसीह आदि की भी जीवनियों का अध्ययन किया था। सिक्खों के धर्म-ग्रन्थों का भी आपने स्वाध्याय किया था। उनमें से जो भी सुन्दर और उपदेशप्रद बात मिलती थीं, आप अपनी कन्याओं के सामने तुरन्त उपस्थित करते थे। इस प्रकार स्वाध्याय ने दिल को इतना उदार बनाया था कि किसी के भी प्रति घृणा, द्वेष और संकीर्णता नाम को भी नहीं बचीं थी। इन सब में महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर के जीवन और उनके उपदेशों का

आपके जीवन पर बहुत अधिक असर पड़ा। उनके उपदेशों का आप प्रायः स्वाध्याय किया करते थे और अपने मित्रों से भी उनको पढ़ने की प्रेरणा किया करते थे। १६२५ में बर्मा से लौटते हुये आप शांति-निकेतन गये थे और वहाँ आपने महर्षि देवेन्द्रनाथ की समाधि के दर्शन किये थे। आपने अपनी डायरी में लिखा है कि "वृक्ष के नीचे उस मण्डप के पास पहुँचते ही महर्षि देवेन्द्रनाथ जी के जोवन का ध्यान आया और आत्म-ज्योति की एक दिव्य झलक आँखों के सामने फिर गई।

बड़ी से बड़ी घटना पर भी आपकी समाधि कभी नहीं टूटी लेकिन, बिहार के प्रलयङ्कारी भूकम्प ने आपकी समाधि को भङ्ग कर दिया। महाविद्यालय की कन्याओं ने भूकम्प पीड़ित भाइयों की सहायता के लिये ५०० रुपया इकट्ठा किया और उनकी प्रेरणा से आपको अप्रैल १६३४ में स्वयं वहाँ जाने के लिये बाध्य होना पड़ा और वहाँ स्त्रियों को पीड़ितों की सहायता करते देख कर आपका हृदय गद्‌गद हो गया।

पंजाब सरकार ने आपको आपकी पुस्तकों के लिये १६०३ में जो २००) का पुरस्कार दिया था, उसका बटवारा आपने निम्न प्रकार दिया था—२००) रुपया बचा। महाविद्यालय को, २५) कर्वे के विधवा-भवन पूना को २५) कन्या आश्रम को, २५) श्रीमती सावित्री को और २५) रुपया कन्या अनाथालय को। इससे पता चलता है कि आपके हृदय में उदारता की भावना का बीज बहुत पहिले से ही जड़ पकड़ चुका था।

ऐसे उदार, परोपकारी, कर्मशील और महान् जीवन के लौकिक व्यक्तित्व और पार्थिव देह का ७५ वर्ष की लम्बी आयु के बाद १७ अप्रैल १९३५ की आधीरात को हृदय की गति एकाएक बन्द हो जाने से अकस्मात अन्त हो गया। लेकिन अलौकिक व्यक्तित्व आज भी विद्यमान है और अनन्त काल तक रहेगा। उसकी अमर-कीर्ति यावच्चन्द्र दिवाकरौ बनी रहेगी और देशवासियों में नवजीवन का संचार करती रहेगी। आपके निधन पर न केवल जालन्धर में, किन्तु समस्त पंजाब के बाहर भारत में सर्वत्र शोक छा गया। आपके भाई हंसराज जी के पास समवेदना-सूचक सम्वादों का ताँता बँध गया। चारों ओर शोक-सभायें हुई और उनमें दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धाजलियाँ भेंट की गईं और गुण-गान किया गया। यह अनुभव किया गया कि एक कर्मशील जीवन का अन्त हो गया और स्त्री-शिक्षा के नभ-मण्डल में चमकता हुआ एक सितारा अस्त हो गया।

आपका कोई उपयुक्त समारक खड़ा करने की चर्चा कई स्थानों पर की गई है। महाविद्यालय की मुख्य- सभा ने इस सम्बन्ध में एक योजना बना कर महाविद्यालय में एक विशाल भवन भी आपकी स्मृति में खड़ा कर दिया है। ये और ऐसे सब स्मारक अस्थायी हैं। वे नश्वर हैं। कालान्तर में वे सब मिट सकते हैं। देवराज जी सरीखे महापुरुषों का असली स्मारक तो उनकी भावना को अपनाना, उनके आदेश का अनुकरण करना और उनके मिशन को पूरा करना है। आप की भावना, आदर्श और

मिशन का मूर्तरूप महाविद्यालय है। उसको स्वतन्त्र आदर्श विश्वविद्यालय बना कर ही आपका सच्चा स्मारक खड़ा किया जा सकता है।

व्यक्तिगत रूप से आपका स्मारक हम सब को अपने जीवन और हृदय में खड़ा करना चाहिये। आपकी तल्लीनता और तन्मयता का हमें अनुकरण करना चाहिये। आपके आदर्श जीवन को हमें अपने लिये 'मौडल' बनाना चाहिये। धार्मिक, सामाजिक साहित्यिक और राजनीतिक एवं शिक्षा आदि के किसी भी क्षेत्र में काम करने वाला आपके जीवन को कपने लिये आदर्श बना सकता है। लेखक, सम्पादक, शिक्षक, उपदेशक, भजनीक, अधिष्ठाता, अध्यापक आदि सभी आपके जीवन से बहुत कुछ सीख सकते हैं। समाज-सुधारक को आपके जीवन से विशेष स्फूर्ति मिल सकती है। अलौकिक धैर्य, अपूर्व साहस, अटल श्रद्धा, दृढ़-विश्वास, अटूट लगन, कार्य-क्षमता, कर्तव्य-परायणता, सादगी, सरलता मिलनसारिता, सहृदयता, उदारता, अपने ध्येय के साथ तन्मयता,अपने मिशन में तल्लीनता और धुन का पक्कापन आदि आपके सद्गुण मृत व्यक्ति के हृदय में भी जीवन, जागृति चैतन्य और उत्साह पैदा कर सकते हैं। बस, इन सद्गुणों को अपने जीवन में धारण करके ही हम सब व्यक्तिगत रूप से आपका कभी न नष्ट होने वाला स्मारक घर-घर में खड़ा कर सकते हैं। ऐसा करके ही चरित्र-नायक की दिवंगत आत्मा को सुख, शान्ति और सन्तोष पहुँचाया जा सकता है।